पुस्तक
धीरज के मीठे फल

रचनाकार
उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

प्रथमावृत्ति
वि. सं. २०४७ फाल्गुन
ईस्वी सन् १९९१, फरवरी

प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर-३१३००१

मुद्रक
कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स
आगरा-२८२ ००२

मूल्य
लागत मात्र ( ) रुपया

❋ समर्पण ❋

जप-ध्यान साधना के परम रहस्यवेत्ता

शान्त चेता, सद्गुरुदेव

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज

की

पावन सेवा में सादर सविनय

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

❋❋

धर्म प्रेमी गुरु भक्त

श्री धनराज जी बाँठिया, (पूना)

एक : परिचय

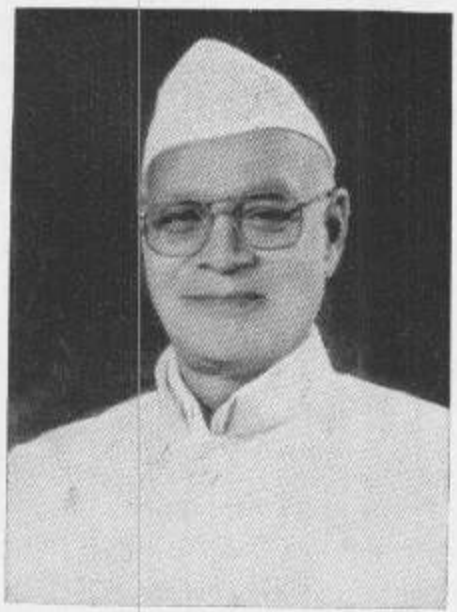

पूना निवासी श्रीमान धनराज जी बाँठिया जैन समाज के विख्यात दानवीर सज्जन पुरुष हैं, जो मुख से बोलते बहुत कम हैं किन्तु मौका आते ही दान की वर्षा करने में सबसे आगे रहते हैं।

आपका जन्म पूना जिले के आँध ग्राम में दिनांक २ मार्च १९२२ को हुआ। हाईस्कूल तक अध्ययन करने के बाद आपने टेलरिंग कोर्स किया और रेडीमेड कपड़े का व्यवसाय भी प्रारम्भ किया। प्रारम्भ में बीज रूप में अंकुरित व्यवसाय आज विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। आपके कारखाने में सैकड़ों व्यक्ति कार्य

करते हैं। रेडीमेड व्यवसाय तथा बिन्नी मिल आदि की एजेन्सी के रूप में आपका व्यापार दूर-दूर तक ख्याति प्राप्त है।

आपका स्वभाव बहुत ही मधुर व मिलनसार है। साथ ही आप सच्चरित्र-निष्ठ व्यक्ति हैं। जैन धर्म के प्रति गहरी निष्ठा है और अन्य सम्प्रदायों के प्रति मन में सहानुभूति है। अनेक सामाजिक, धार्मिक कार्यों के प्रति आपकी रुचि है और यथाशक्ति आप सहयोग भी देते रहते हैं।

धर्मानुरागिनी अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती झमकाबाई भी धर्मपरायणा सुश्राविका है। पति की भाँति आपमें भी धार्मिक भावना का साम्राज्य है, आप दोनों ही श्रावक जीवन के आदर्श रूप हैं।

वर्तमान में आपके तीन सुपुत्र हैं—गुलाबचन्द जी, फूलचन्द जी और सुहास जी। यह तीनों त्रिमूर्ति की तरह हैं, तथा तीनों भाइयों की धर्मपरायणा क्रमशः धर्मपत्नियां हैं—अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती राजश्री, अखण्ड सौभाग्यवती चंचलाबाई, अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती कान्ताबाई। गुलाबचन्द जी के एक पुत्र और एक पुत्री है—प्रशान्तकुमार, मनीषा। फूलचन्द जी की तीन पुत्रियां हैं—नूतनकुमारी, राखीकुमारी, स्वीटीकुमारी। सुहास जी के दो पुत्र हैं और एक पुत्री—रूपेशकुमार, प्रीतिशकुमार और रीना कुमारी।

आपश्री के ज्येष्ठ पुत्र खींवराज जी थे। जो बहुत ही विवेकी व धर्मनिष्ठ थे। उनका स्वर्गवास हो गया है। उनकी धर्मपत्नी धर्ममूर्ति श्रीमती कान्ताबाई जी बहुत ही समझदार सुश्राविका हैं। आपके एक पुत्र हैं हर्षकुमार। आपका सम्पूर्ण परिवार परम श्रद्धेय अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज, उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज साहब के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु है।

प्रस्तुत धीरज के मीठे फल पुस्तक प्रकाशन में आपका स्मरणीय सहयोग प्राप्त हुआ है, धन्यवाद।

आपके प्रतिष्ठित व्यापारिक प्रतिष्ठान का नाम है—

के० जी० बाँठिया ब्रादर्स

८९/१ भवानी पेठ, पूना–४११००२

–चुन्नीलाल धर्मावत

कोषाध्यक्ष

तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

* प्रकाशकीय *

उपन्यास साहित्य की एक ऐसी लोकप्रिय विधा है कि प्रबुद्ध पाठक से लेकर सामान्य साक्षर व्यक्ति भी उसे चाव से पढ़ता है। चुम्बक की तरह वह पाठक के दिल को आकर्षित करता है। जब तक पाठक उसे पूरा न कर लें तब तक उसे चैन नहीं पड़ता। यही कारण है कि साहित्य की अन्य विधा की अपेक्षा यह विधा अधिक विकसित हो रही है।

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी ने जहाँ गुरु गंभीर विषयों पर शोध प्रबन्ध लिखे हैं, विवेचनात्मक निबन्ध साहित्य दिया है--चिन्तनपरक ललित साहित्य में उनकी लेखनी अविराम गति से आगे बढ़ी है वहाँ उन्होंने कथा साहित्य पर भी जमकर लिखा है। उपन्यास शैली में उनके एक दर्जन से अधिक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। उनके उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जन-जन के अन्तर्मानस में वे उदात्त और पवित्र प्रेरणा प्रदान करते हैं। सम्प्रदाय, पंथवाद और प्रान्तवाद की संकीर्णता से ऊपर उठकर मानवता की प्रतिष्ठा करते हैं।

"धीरज के फल मीठे" यह मुनिश्री जी का अभिनव उपन्यास है। वत्सराज एक राजकुमार है। कर्त्तव्य की जीती जागती प्रतिमा है। उसके जीवन में अनेक बार ऐसी रुकावटें आईं कि सामान्य व्यक्ति धीरज को बनाये नहीं रख सकता था, पर वह उन व्यवधानों की चट्टानों को चीरता हुआ बरसाती नदी की तरह निरन्तर आगे बढ़ता रहा और एक दिन वह उस चरम शिखर को भी छू गया जो उसका चरम और परम लक्ष्य था।

जैन कथा पर आधृत प्रस्तुत उपन्यास जन-जन के लिए प्रेरणास्रोत रहेगा। प्रस्तुत उपन्यास को पढ़कर पाठक के अन्तर्मानस में नैतिकता का संचार हो सका तो उपाचार्य श्री जी का प्रयत्न पूर्ण सफल हो सकेगा। हमें पूर्ण विश्वास है कि उपाचार्य श्रीजो के अन्य उपन्यासों की तरह यह उपन्यास भी अत्यधिक लोकप्रिय बन सकेगा।

चुन्नीलाल धर्मावत
तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

लेखक की कलम से

जैन कथा साहित्य भारतीय साहित्य की एक अनमोल निधि है। आगमों से लेकर आधुनिक युग तक जैन मनीषी अपनी कमनीय कल्पना से कथाओं को नित्य नूतन परिवेश में प्रस्तुत करते रहे हैं। आगम युग में प्राकृत भाषा में कथाएँ प्रस्तुत की गईं। उन कथाओं में मनोरंजन के साथ ही अशुभ कृत्यों से हटा कर मानवों को शुभ कृत्य करने की पावन प्रेरणा दी गई। आध्यात्मिक, नैतिक, धार्मिक भावनाओं को उजागर करने का उन कथाओं में एक लक्ष्य रहा।

आगम साहित्य के पश्चात निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीका ग्रन्थों में कथा साहित्य का विकास सहज रूप में दृग्गोचर होता है। उसके पश्चात महापुरुषों के पवित्र चरित्रों के आधार पर कथाग्रन्थ लिखे गये। प्रस्तुत कथा ग्रन्थों पर रामायण, महाभारत और जातक शैली का प्रभाव है। वसुदेव हिण्डी पौराणिक कथा शैली में लिखा गया, एक श्रेष्ठतम ग्रन्थ है, जो प्राकृत गद्य बहुल है। पउम-चरियं, हरिवंस चरियं, चउप्पन महा पुरिस चरियं, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, आदिनाथ चरित्र, शांतिनाथ चरित्र, मल्लिनाथ चरित्र, नेमिनाथ चरित्र आदि विविध चरित्र लिखे गए हैं। जिनमें अनेक अवांतर कथाएं भी हैं।

उसके पश्चात आख्यायिका पद्धति पर अनेक कथा ग्रन्थ लिखे गए हैं। उसके बाद कथा साहित्य में तृतीय शैली का विकास कथा कोष के रूप में हुआ। कथा कोषों में विविध प्रकार की कथाएँ जो प्रेरणाप्रद रहीं, उनका संकलन, आकलन किया गया। और पौराणिक चरित्रों के आधार पर भी कथाएँ लिखी गईं। यह सम्पूर्ण कथा साहित्य भाषा की दृष्टि से प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा गुजराती मिश्रित राजस्थानी भाषा में निर्मित है। गुजराती मिश्रित राजस्थानी भाषा में निर्मित साहित्य रास और चौपाई के रूप में विश्रुत रहा है।

गुजराती मिश्रित राजस्थानी साहित्य इतना विस्तृत है जिसे देखकर

सहज ही आश्चर्य होता है। जैन महामनीषियों ने कितना विपुल साहित्य लिखा है, जो हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक रूप है।

भगवान शांतिनाथ पर अनेक लेखकों ने लिखा है। मुनि देवसूरि ने शांतिनाथ चरित्र लिखा। उसी के आधार पर बृहत गच्छीय साधु गुणभद्र ने दूसरा शांतिनाथ चरित्र लिखा। भट्टारक सकलकीर्ति ने शांतिनाथ चरित्र की रचना की है। राजस्थान के जैन सन्त व्यक्तित्व एवं कृतित्व ग्रंथ में डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने उसका उल्लेख किया है। लक्ष्मीतिलक उपाध्याय जो खरतरगच्छीय थे, उन्होंने भी शांतिनाथ चरित्र लिखा है। तथा अन्य अनेक लेखकों के शांतिनाथ चरित्र मिलते हैं। परन्तु विस्तारभय से उन सभी का उल्लेख नहीं कर रहे हैं। शांतिनाथ चरित्र में ही देवराज-वत्सराज की कथा अवांतर कथा के रूप में आती है। उस कथा को तपा-गच्छीय हेम विमल सूरि की परम्परा में सूरहंस नामक सन्त के शिष्य लावण्यरत्न ने वत्सराज-देवराज रास की स्वतन्त्र रचना की। इस रास की रचना का समय संवत् १५७१ पौष कृष्णा एकम है। कवि ने स्वयं अपनी रचना का समय प्रशस्ति में इस प्रकार दिया है—

कला बहुतरि गुणआधारो,
पंच महव्वय सुदाचारो, वंदिसो गुरुसारो।
लावण्यरत्न तसु सीस हर्रसि,
संवत पनर एकातरवरसि, पोसिपड़वे दिवस।
देवगिरि नगरि कीधउ रास,
वच्छराज नु सरस निवास, भणंति ते सुख लहसइं।
(जैन गुर्जर कवियो, भाग ३, पृष्ठ ५६८ व ५६९)

देवराज और वत्सराज दोनों की प्रकृति में दिन-रात का अन्तर है। देवराज तामसिक वृतियों का जोता-जागता प्रतीक है। उसमें क्रोध, मान, माया, ईर्ष्या, प्रभृति कषायों का प्राधान्य है। जबकि वत्सराज में सात्विक विचारों का प्रतिनिधित्व है। वत्सराज विविध परीक्षाओं में खरा उतरता है। उसकी सात्विकता और नीतिनिष्ठा गजब की है। सात्विक वृत्ति के कारण कष्टों के घनघोर बादल एक दिन छँट जाते हैं और उसका जीवन-सूर्य ज्योतिर्मय किरणों से प्रदीप्त हो उठता है।

वत्सराज की पौराणिक कथा के आधार पर ही मैंने प्रस्तुत उपन्यास का प्रणयन किया। धीरज के फल सदा मीठे होते हैं। वत्सराज पौरुष का

साक्षात् रूप है। वह वर्षा की नदी की तरह अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर आगे बढ़ता रहा है और एक दिन वह उस लक्ष्य को भी प्राप्त कर गया। किन्तु देवराज का ईर्ष्या के कारण पतन होता चला गया और एक दिन दर-दर का भिखारी बनकर भटकने लगा। पर वत्सराज ने अपनी देवी प्रकृति का परिचय दिया।

श्रद्धेय सद् गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० का मंगलमय आशीर्वाद मेरे जीवन के लिए वरदान रूप रहा है। उनके हार्दिक आशीर्वाद से ही मैं प्रगति के पथ पर निरन्तर बढ़ता रहा हूँ। जो कुछ भी श्रेष्ठता है वह उनके आशीर्वाद का ही प्रतिफल है।

अन्य उपन्यासों की तरह प्रस्तुत उपन्यास भी जन-जन के लिए प्रेरणास्रोत बनेगा तथा सात्विक भावनाओं का संचार करेगा। यही मंगल मनीषा।

—उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

धीरज के मीठे फल

१

एक-एक सीढ़ी चढ़ते हुए महाराज वीरसेन राजप्रासाद के सर्वोच्च स्थल पर पहुँच गये। खुली छत पर खड़े महाराज की श्वास कुछ तीव्र हो चली थी। इन दिनों उन्हें एकाकी और चिन्तनलीन रहने की प्रवृत्ति प्रिय हो गयी थी। इस उच्च स्थल पहुँचकर उन्हें लगा मानो इसी प्रकार वे साल पर साल पार करते हुए अपनी आयु की पराकाष्ठा पर पहुँचे हैं। कतिपय अमांगलिक विचार उनकी चिन्तन-धारा में सम्मिलित होने लगे। सहसा उन्होंने मस्तक को हल्का-सा झटका दिया। मानो अवांछित विचार झड़ गये। उनके मुख-मण्डल पर कुछ मानसिक स्वस्थता के चिह्न उभर आये। कुछ और परिवर्तन पाने के लिए उन्होंने वह स्थान छोड़ दिया। हठात् कुछ चरण आगे बढ़ आये और धीमे-धीमे वे छत के मध्य भाग में पहुँच गये। उन्होंने दृष्टि घुमाकर दूर-दूर तक फैली अपनी राजधानी—क्षितिप्रतिष्ठितपुर को देखा और उनके मन में एक विशेष प्रकार का आनन्द उदित हो गया। विशाल हरे-भरे उद्यानों ने उन्हें संतोष दिलाया कि प्रकृति उनके राज्य पर प्रसन्न है। स्वच्छ, सुन्दर, उच्च मकानों ने नगर की सम्पन्नता की साक्षी देकर महाराज के मन को गर्व से भर दिया। हजारों रंग-बिरंगी पताकाओं ने उनका मन मोह लिया। नगर के पथ जन संकुल दिखाई देते थे, इतनी ऊंचाई पर भी नगर की जन-ध्वनि क्षीण सी सुनाई पड़ती थी। इन से नगर की सक्रियता और हर्षोल्लास की सूचना मिलती थी। एकबारगी अपने राज्य पर महाराज को गर्वानुभूति हुई, जिसने आनन्द दिया, किन्तु उनका अस्थिर मन अधिक समय इस स्थिति में भी नहीं रह पाया।

पश्चिम दिशा में सूर्यास्त होने को था। आकाश में सिन्दूरी संझा खिल उठी थी—बड़ी सुन्दर····बड़ी ही मनमोहक। महाराज वीरसेन का

मन भी पलभर को इस छटा पर मुग्ध हो गया। बगुलों की एक श्वेत, वक्र पंक्ति विद्युत-रेखा-सी प्रतीत होती थी। महाराज के मन में आया—सांझ फिर भी सांझ है। कितनी ही सुन्दर क्यों न हो यह, इसके पीछे घोर कालिमा बंधी चली आती है। चंचल मन उद्विग्न हो उठा। महाराज तुरन्त घूम पड़े। धीमे-धीमे वे एक-एक सीढ़ी उतरने लगे। अनावश्यक रूप से गर्दन झुकी हुई। दृष्टि सोपानों को निहारती रही। किसी चिन्ता का भार संभाले हुए वे नीचे उतरते रहे। संध्या उनके जीवन की भी आ चुकी थी, जिसके पीछे अंधेरा है, सन्नाटा है, शून्य है।

क्षितिप्रतिष्ठितपुर का राजप्रासाद शोभा और विलासिता, वैभव और साधन-सुविधाओं का केन्द्र था। नरेश वीरसेन अपने इस प्रासाद को एक दर्पण ही मानते थे जिसमें उनके राज्य की सम्पन्नता, सुन्दरता और सुख की छवि अंकित रहती है। महाराज सीढ़ियाँ उतरकर गलियारे, वीथियाँ पार कर अपने विशाल, सज्जित कक्ष में पहुँचे। प्रहरी ने सादर झुककर वन्दन किया और उल्टे कदमों से कक्ष से बाहर द्वार के समीप सावधान मुद्रा में अवस्थित हो गया। महाराज मखमली फर्श पर टहलने लगे। सहसा वे विशाल दर्पण के समक्ष जा खड़े हुए। स्वर्ण खचित चौखट में जड़ा यह दर्पण सहसा उस स्वर्ण गवाक्ष-सा प्रतीत होने लगा, जिसमें खड़े महाराज मानो बाहर झाँक रहे हों। महाराज ने अपना प्रतिबिम्ब निहारा और सहसा एक मुस्कान उनके अधरों पर खेल गयी। वे ध्यानपूर्वक अपना निरीक्षण स्वयं करने लगे। घनी सचिक्कण केश राशि पीछे की ओर जाकर गदन पर कुछ घुँघराल हो गयी थी। सहसा उनकी दृष्टि कान के पास के एक-दो श्वेत केशों पर पड़ी। महाराज गंभीर हो गये। उनका सीधा हाथ चुटकी बाँधे उन केशों की ओर बढ़ा, किन्तु बीच रास्ते से ही लौट आया। वे सोचने लगे—संकट की सूचना फाड़ फेंकने से संकट नहीं टलता। वस्तुस्थिति स्वीकार कर लेना ही हितकर है। अब वृद्धावस्था और····समीप ही है। शीघ्र ही सारे निश्चय कर लिये जाने चाहिए।

महाराज ने एक बार पुनः अपनी छवि की ओर विहंगम दृष्टि से देख लिया। दायें हाथ की ओर देखा तो दर्पण में कुमार देवराज की और बायें हाथ की ओर वत्सराज की छवि दिखाई दी। दर्पण के समक्ष दो स्तंभों पर इन दोनों राजकुमारों के चित्र लगे हुए थे। इन छवियों को देखकर उन्हें गुणवती महारानी धारिणी की स्मृति हो आयी। उनका हृदय जीवन की

ललक से भर उठा। अपना यह सुखमय राज-परिवार उन्हें बड़ा प्रिय रहा था। इस मोह ने धकियाकर एक बार तो सभी अशुभ विचारों को हृदय से बाहर ही कर दिया। किन्तु श्वेत केशों की छवि अधिक समय तक मौन नहीं नहीं रह पायी। नरेश के कानों में गूँजने लगा—'कालि करै सो आजि कर'—महाराज पुनः विकल हो उठे। उनकी छवि भी मानो पुकार कर कह रही थी कि अब विलम्ब करना उपयुक्त नहीं है। युवराज का चयन कर शीघ्र ही घोषणा कर दी जानी चाहिए।

महाराज इस गंभीर स्थिति को अब भी कुछ समय और टालना चाहते थे कि क्यों व्यर्थ में असमय ही कोई समस्या खड़ी की जाय। आज उन्हें लगा कि नहीं, इस निर्णय को टालना अब उपयुक्त नहीं होगा। दर्पण की उनकी अपनी छवि ने मानो उन्हें पुकार कर कहा कि इस प्रश्न पर समय से इतना पहले क्यों चिन्ता करते हो? जब जब अवसर आए तब देखा जायेगा।

महाराज ने उत्तर दिया कि अवसर कब आ खड़ा हो····कुछ कहा नहीं जा सकता। हमारी तैयारी पहले से ही रहनी चाहिए। वर्षा के पूर्व ही बाँध निर्मित कर लिया जाता है।

तभी छवि ने कहा—इस प्रश्न का निर्णय तो पहले से राजनियम कर चुके हैं। ज्येष्ठ पुत्र ही तो राजा का उत्तराधिकारी होता है····।

महाराज ने बात बीच में ही काटते हुए कहा—लेकिन राजनियम लोहे की लकीर तो नहीं होते। समय और परिस्थिति के अनुसार ही उनका उपयोग किया जाना चाहिये। महाराज को लगा दर्पण में ज्येष्ठ कुमार देवराज की छवि पर कुछ झुँझलाहट छा गयी। भावी अनिष्ट की आशंका से एक उदासी छा गयी।

तभी दर्पण की महाराज की छवि फिर मुखरित हो उठी। कहने लगी—"वीरसेन····वीरसेन क्या तुम कुछ अद्भुत, कुछ विचित्र ही करने जा रहे हो? क्या देवराज को तुम उसका अधिकार नहीं देना चाहते।" देवराज की मुख मुद्रा में भी मानों एक प्रश्न उतर आया—उत्तर की प्रतीक्षा में आतुरता की स्थिति उसके मुखमंडल पर झलकने लगी।

महाराज ने कहा कि—राज्यासन पर किसी का जन्मजात अधिकार नहीं होना चाहिये। कोई केवल इस कारण उत्तराधिकारी नहीं हो जाता

कि वह अग्रज है। योग्यता के आधार पर अनुज भी कभी अग्रज से अधिक उत्तम हो सकता है, उत्तराधिकार का दावेदार हो सकता है।

छवि ने महाराज को प्रबोधन के स्वर में फिर कहा—"मेरी मानो। इस विषय में परम्परा के विरुद्ध कोई निर्णय करना ठीक नहीं होगा। वत्सराज अभी छोटा है। उसके गुण-दोषों की परख भी अभी नहीं हो सकती है। फिर राजनियम भी उसके पक्ष में नहीं है।" देवराज की छवि पर एक सन्तोष, एक प्रसन्नता की झलक दिखायी दी।

महाराज ने कुछ तैश में आकर कहा—"तुम क्या हमें मूर्ख समझते हो। हमने देवराज को भी और वत्सराज को भी, दोनों को ही देखा-समझा है। दोनों का चरित्र, आचरण, संस्कार, विचार की हमने भलीभाँति परीक्षा की है। हमारी दृष्टि में देवराज उन्नीस ही ठहरा है। तभी तो वत्सराज के पक्ष में हमारा निर्णय....."

"किन्तु क्या यह निर्णय न्यायोचित होगा?"—छवि ने फिर से कहा—"इतिहास और परम्परा का विरोध तुम जैसे आदर्श शासक को क्या शोभा देगा? तनिक विचार करो, तुमने इतने दीर्घकाल तक क्षितिप्रतिष्ठित-पुर की जनता को न्यायपूर्ण सुशासन दिया है। अब क्या तुम अन्तिम समय में....."

'चुप भी रहो तुम!' महाराज ने फिर आवेश में कहा। दर्पण में देवराज की छवि पर छाये असन्तोष की अनदेखी करते हुए महाराज ने दर्पण को फिर सचेत किया कि वे चाटुकारिता से प्रभावित होने वाले नहीं। उन्होंने कहा कि देख, अच्छी तरह से सुन ले। एक शासक का कर्तव्य इसमें सम्पूर्ण नहीं हो जाता कि वह अपने शासनकाल में प्रजा को अच्छा शासन दे। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपनी प्रजा को अच्छा शासक देकर जाय। यदि दुर्जन और दुश्चरित्र उत्तराधिकारी देकर गया तो शासक का दायित्व उसने भली भाँति पूर्ण नहीं किया। मैं यह अभाव अपने में नहीं रहने दूँगा। देवराज के स्थान पर वत्सराज को मैं अपना उत्तराधिकारी घोषित करूँगा—यह मेरा निश्चय है।

महाराज को देवराज की छवि घूरने लगी। महाराज वीरसेन को लगा मानो उसके नेत्रों से अंगारे बरस रहे हों। तभी महाराज की दृष्टि वत्सराज की छवि पर पड़ी। वह शान्त, गम्भीर, निर्विकार थी।

कक्ष में अँधेरा उतरने लगा। दर्पण की छवियाँ धूमिल होती जा रही थीं। दर्पण का वीरसेन एक बार महाराज को पुनः सावधान कर तिरोहित हो गया। महाराज के मन पर अन्तर्द्वन्द्व के कारण बोझ कुछ अधिक बढ़ आया। उनकी श्वास गति भी बढ़ गई थी और भाल पर श्रम बिन्दु झलकने लगे। इस विचित्र संवाद-योजना ने उनके मन को प्रबल बना दिया। वे इस पक्ष को न्यायसंगत, युक्तियुक्त और सार्थक मानने लगे कि वत्सराज ही उनका उत्तराधिकारी होगा, क्योंकि वह इस योग्य है। देवराज में सुशासक के लक्षण नहीं दिखायी देते। मात्र इस कारण कि वह ज्येष्ठ पुत्र है—मैं उसे युवराज घोषित नहीं करूँगा। इस निश्चय की पुनरावृत्ति से महाराज वीरसेन को कुछ सन्तोष हुआ। उनकी मानसिक थकान कुछ कम हुई। एक उत्फुल्लता उनके मन में बसने लगी। मन का अन्धकार छँटने लगा और सुनिश्चय का आलोक प्रसारित होने लगा। तभी सेवक ने आकर कक्ष के दीप भी प्रज्वलित कर दिये। बाहर-भीतर के प्रकाश से नरेश वीरसेन प्रफुल्लित हो उठे। उन्होंने गर्दन पीछे को झुकाकर एक बार अपने सिर को झटकारा, दोनों हाथों से केशराशि को सँवारा और मानसिक द्वन्द्व से मुक्ति पाकर एक गहरी, सन्तोष भरी सांस ली। वे धीमे-धीमे चलते हुए खुले गवाक्ष में आ गये और नगरावलोकन में निमग्न हो गये।

× × × ×

इतिहास-ख्यात राज्य क्षितिप्रतिष्ठितपुर अपने नाम को सार्थक सिद्ध करने वाला प्रतिष्ठित राज्य था। इस समृद्ध राज्य में सर्वत्र सुख ही सुख था। किसी दिशा से भी करुण क्रन्दन का कोई स्वर नहीं सुनाई देता था। हरी-भरी धरती वानस्पतिक वैभव की प्रचुरता की प्रतीक थी। अन्न, फल-फूलों की विपुलता यहाँ की विशेषता थी। किसी भी खाद्य का अभाव यहाँ कभी नहीं रहता। घर-घर में नृत्य-संगीत होता रहता। चित्रकला, मूर्तिकला के सुन्दर आदर्श स्थान-स्थान पर दिखायी देते थे। इनसे नागरिकों की कलात्मक सुरुचि का परिचय मिलता था। स्नेह, सौजन्य, सौहार्द और सहानुभूति का परिचायक नागरिकों का पारस्परिक व्यवहार बहुजन-हिताय हुआ करता। यहाँ का जन, जन-जन के लिए जीवित रहता था। पर-सुख में सन्तोष पाना यहाँ के लोगों का स्वभाव हो गया था। एक निश्चित सीमा से परे संग्रह की प्रवृत्ति किसी में भी नहीं देखी जाती थी।

परिग्रह के मोह से परे सभी निस्वार्थ जीवन व्यतीत करते थे। इस राज्य में कोई किसी का बैरी नहीं था। सभी परस्पर हितैषी थे। सभी धर्मप्रिय थे। नागरिकों के विचारों में ही धार्मिकता न थी, अपितु उनके कर्मों में भी धर्मानुसरण का रंग दिखायी देता था।

क्षितिप्रतिष्ठितपुर की ऐसी प्रजा को राजा भी वीरसेन जैसा धर्मानुरागी मिला। महाराज वीरसेन अत्यन्त न्याय-प्रिय और प्रजावत्सल थे। वे न्याय-पालन के मार्ग में किसी भी प्रकार की बाधा को प्रभावी नहीं मानते थे। महारानी धारिणी भी अत्यन्त धर्मानुयायिनी और पतिव्रता नारी थीं। उन्होंने भी प्रजा को सदा ही सन्तानवत् स्नेह दिया। प्रजाजन भी अपने महाराजा और महारानी के प्रति अटूट श्रद्धा रखते, उन पर प्राण न्यौछावर करने को तत्पर रहते थे। वास्तव में इस राज्य को आदर्श राज दम्पति का सौभाग्य प्राप्त था। प्रजा को अपने नरेश पर और नरेश को अपनी प्रजा पर गर्व था।

क्षितिप्रतिष्ठितपुर के इस राजवंश में दो राजकुमार थे। देवराज अग्रज और वत्सराज अनुज था। माता धारिणी के लिए दोनों ही कुमार आँखों की पुतलियों के समान थे। दोनों के प्रति उनके मन में अतिशय वात्सल्य भावना थी। महाराज वीरसेन भी अपने दोनों पुत्रों को समान रूप से ही स्नेह करते थे। वे मानों उनके दोनों बाहु थे। दोनों बाहुओं में भी कुछ अन्तर तो होता ही है। नरनाथ वीरसेन के लिए दायीं बाहु के समान वत्सराज ही था। देवराज का स्थान बायीं भुजा के समान था। ऐसा अकारण भी नहीं था।

इस राजवंश में एक महत्वपूर्ण विभूति और थी। रानी धारिणी की अग्रजा सोमश्री भी अपना सब कुछ खोकर निरी एकाकी होकर अपनी अनुजा के पास आ गयी थीं। वर्षों से वे इस परिवार में एक परिजन की स्थिति में रह रही थीं। उन्हें सभी की श्रद्धा, सभी का आदर प्राप्त था। वे मानों इस राजपरिवार की अभिन्न अंग बन गयी थीं। महाराज स्वयं भी सोमश्री को अपनी अग्रजावत् मानते और मन से उनका आदर करते थे। महारानी धारिणी की तो वे दीदी थीं ही। मौसी सोमश्री का वत्सराज के प्रति कुछ अधिक ही वात्सल्य था। वे उसे अपना पुत्र ही मानकर स्नेह देती रहीं। वत्स जब तीन वर्ष का था, तब से ही मौसी को अपनी माँ के समान मानता था। माँ और बड़ी माँ के सम्बोधन ही उसने धारिणी और

सोमश्री के लिए बना लिये थे। मौसी भी इस निरीह भावना के साथ वत्स को 'वत्स' मानती रहीं कि कब वह किशोरावस्था को पार कर पन्द्रह वर्षीय हो गया—उन्हें इसका आभास भी नहीं हुआ। वास्तव ने महारानी धारिणी ने भी वत्स को अपनी दीदी सोमश्री के लिए रख छोड़ा था, मानो दोनों माताओं में पुत्रों का बटवारा हो गया हो।

बाल सुलभ चंचलता का आधिक्य भी वत्सराज में शैशव से ही था। वह सदा बड़ी माँ की ओर ही रहना चाहा करता था। कभी-कभार उसको धारिणी के कक्ष में ही जब नींद आने लगती तो रानी अपनी दीदी को पुकार कर कहतीं कि दीदी, तुम अपने वत्स को ले जाओ, अब वह सोएगा। ऐसा निश्छल ममत्व उसे अपनी बड़ी माँ से मिला कि धारिणी उसके लिए मौसी के समान हो गयी थी और सोमश्री को वह अपनी माँ मानने लगा था।

बड़ी माँ ने भी माँ की भूमिका का निर्वाह भली प्रकार किया। उनका कक्ष वत्सराज के लिए संस्कार शाला थी और बड़ी माँ स्वय उसकी प्रथम गुरु थीं। बड़ी माँ ने आरम्भ से ही वत्स को संस्कारशील बनाने का प्रयास किया। उसे नैतिकता-भरी कथाएँ सुनाना, ज्ञान चर्चा करना उनका स्वभाव हो गया था। उनके पिलाये ही वह दूध पीता और उनके खिलाये ही वह खाना खाता था। सोमश्री जब तक थपकी देती हुई लोरी न सुनातीं वह सोने का नाम नहीं लेता था। और वह उठता तो था ही नहीं, जब तक बड़ी माँ उसे जगाने नहीं जातीं। सोमश्री जानती थीं कि बच्चों का विकास इस बात पर बहुत निर्भर करता है कि शैशवावस्था में उन्हें कैसा वातावरण मिलता है, कैसा व्यवहार उन्हें मिलता है। और वे वत्स को वैसा ही वातावरण, वैसा ही व्यवहार देती रहीं। यही कारण है कि वत्सराज बड़ा होकर सौम्य और सुशील व्यक्तित्व में ढल गया था।

देवराज के विपरीत वत्सराज बड़ा प्रतिभाशाली था। उसने शस्त्रों और शास्त्रों का ज्ञान शीघ्र ही हृदयंगम कर लिया था। निरन्तर अभ्यास के आधार पर वत्सराज ने इन दोनों ही क्षेत्रों से दक्षता अर्जित कर ली। शस्त्र विद्या ने उसे साहसी और पराक्रमी बना दिया था और शास्त्रों ने उसे एक कुशल सामाजिक बना दिया। न्याय, नीति, दर्शन और राजधर्म की गहरी जानकारियाँ उसे हो गयीं। वह सच्चे अर्थों में मानवीय गुणों से सम्पन्न हो गया। दया, ममता, सेवा-सहायता, उदारता आदि गुणों से उसका चरित्र

सज्जित हो गया और रचनात्मक प्रवृत्तियों की आभा से उसका व्यक्तित्व जगमगा उठा। प्राणिमात्र के प्रति उसके मन में ममता का, करुणा का, हितैषिता का भाव था। शक्ति और शील के मणि-कांचन योग से वत्सराज का व्यक्तित्व निखर उठा था। अपने सद्गुणों के कारण ही वत्स अत्यन्त लोकप्रिय था, वह सभी की प्रीति का पात्र था। सभी उसे प्राणों से भी अधिक चाहते थे।

देवराज ज्येष्ठ राजपुत्र होने के कारण माना करता था कि क्षिति-प्रतिष्ठितपुर का भावी नृपति वही है। इस मान्यता ने उसमें अहम् का अतिरेक कर दिया था। वह क्रूर कर्मी था। निर्दय कृत्यों में उसे आनन्दानुभूति होती थी। पशु-पक्षी ही नहीं—मानवों के प्राणों से खेलना उसके लिए थी—आनन्ददायी क्रीड़ा। शस्त्रों का अधकचरा ज्ञान तो फिर भी उसे था, किन्तु शास्त्रों से वह कोसों दूर था। उसे मानवोचित सद्गुणों का अभ्यास तो क्या, ज्ञान भी नहीं था। इस दुश्शील युवा से प्रजाजन को कोई आशा नहीं थी। सभी आतंकित रहते थे कि राजा बनने पर इसके हाथों प्रजा का कोई शुभ नहीं होगा। यह हिंस्र पशु सबके लिए वेदना और पीड़ा का ही कारण बनेगा। वत्सराज के लिए जन सामान्य का विचार और व्यवहार दोनों में समता थी। उसे प्रिय भी समझा जाता और उसे प्यार भी किया जाता था। देवराज सभी के लिए निन्दा और घृणा का पात्र था, किन्तु ऊपर से सभी उसकी प्रशंसा ही करने को विवश थे। सभी को उसका आदर करना पड़ता था। यह भय की प्रीति थी। वत्स को देखकर सबके हृदय-कमल खिल उठते थे, भीतर का हास मुस्कान बनकर अधरों पर बिखर जाता था। देवराज को देखकर सभी को अपने गंभीर मुख-मण्डल पर कृत्रिम मुस्कान चुपड़नी पड़ती थी।

वत्स दीपक की शिखा की भाँति अंधेरे में आलोक प्रसारित करता था। देवराज विद्युत की भाँति था जिससे आलोक कम और महाविनाश की आशंका ही अधिक मिलती थी। इस अन्तर को महारानी धारिणी का ममतामय हृदय तो नहीं पहचानता था, किन्तु विवेकशील पिता इससे भली-भाँति अवगत थे। परम्परा और व्यवहार में वे भली-भाँति अन्तर कर सकते थे और दोनों में द्वन्द्व की स्थिति में वे दूसरे पक्ष के ही समर्थक रहा करते थे। यही कारण था कि उस संध्या को दर्पण-संघर्ष के अन्तर्द्वन्द्व में वे दर्पण को पराजित कर सके। उन्होंने संकल्प कर लिया था कि वे अपने

कनिष्ठ कुमार वत्स को ही युवराज घोषित करेंगे। मात्र परम्परा, नियमों का आधार ही देवराज के पक्ष में है। ज्येष्ठता का आदर करते हुए देवराज को उत्तराधिकारी बनाना महाराज वीरसेन अनुपयुक्त मानते थे। उन्हें उसमें नहीं, वत्सराज में सुशासक के लक्षण दिखायी देते थे।

एक प्रातः उत्फुल्ल मन महाराज जब अपने कक्ष में बैठे मधुर मंगल वाद्यों का आनन्द ले रहे थे; उन्हें सहसा प्रांगण से आने वाली घोर जन-ध्वनि ने चौंका दिया। इस ध्वनि में उन्हें तीव्र आक्रोश का स्वर अनुभव हुआ। उनकी मुखमुद्रा में गभीरता उतर आयी, भाल पर बल पड़ गये। वे इस वातावरण के कारण का अनुमान करने ही लगे थे कि एक प्रहरी हाँफता हुआ पहुँचा—"महाराज की जय हो!" कहता हुआ झुककर प्रणाम कर वह एक ओर हटकर सिर झुकाकर खड़ा हो गया।

महाराज ने प्रहरी से पूछा—"बोल····क्या कहना है तुझे? चुप क्यों हो गया?"

प्रहरी कुछ बोलने को हुआ, होठ थरथराए, पर कोई बोल नहीं फूटा। महाराज उसके भय को ताड़ गये। जिज्ञासा उनके मन में बलवती हो ही गयी थी। आश्वस्त करते हुए उन्होंने फिर प्रहरी से कहा—"घबराओ नहीं, पहरी! निर्भीक होकर बताओ····क्या बात है? प्रांगण में यह शोर कैसा····? कौन लोग हैं, क्या चाहते हैं?"

प्रहरी ने गर्दन कुछ ऊँची उठाई। साहस करके बोला—"प्रभो! समीप के ग्राम सिधर के निवासी समूह बनाकर आये हैं। उनके घर उजाड़ दिये गये हैं महाराज! सारा गाँव नष्ट हो गया है।"

"किसने किया है यह कुकृत्य हमारे राज्य में? किसका सिर धड़ से उकता गया है।"—कहते हुए महाराज वीरसेन तनकर खड़े हो गये। उनकी आँखों में लाल डोरे खिच आये, भौंहें तन गयीं। उन्होंने कहा हमारा अश्व तैयार किया जाय।

अश्वारूढ़ महाराज रोषातुर ग्रामवासियों के मध्य पहुँचे। उनका अभिवादन स्वीकार करते हुए महाराज ने आश्वासन के स्वर में उन्हें ढाढ़स बँधाया और कहा—"आप लोग निश्चिन्त रहें, राजकोष से आपकी क्षतिपूर्ति की जायगी। आप उस नराधम नीच का नाम बताइये जिसने यह महा-विनाश किया है?" पूरा जन समूह मूक, स्तब्ध खड़ा रह गया। तब महा-

राज ने एक वृद्ध को आश्वस्त करते हुए पूछा—"बाबा, आप उस दुष्ट का नाम बताइये""घबराइये नहीं। वह दुर्जन अब आपकी और अधिक हानि नहीं कर सकेगा""।"

वृद्ध ने हाथ उठाकर प्राणों की भीख मांगते हुए रहस्योद्घाटन किया कि यह महाविनाश बड़े कुँवर देवराज ने किया है। सारा का सारा गाँव ध्वस्त करा दिया गया है। महाराज को यह भी बताया गया कि वहाँ कुमार के मनोरंजन के लिए क्रीड़ांगन निर्मित किया जा रहा है। अबाल-वृद्ध नारी अनेक जन अनाश्रित हो गये हैं। न उनके लिए खाने को अन्न है और न रहने को घर। महाराज को आन्तरिक पीड़ा हुई। प्रजापालक नृपति प्रजा के दुःख से द्रवित हो गये। उन्होंने अपने पुत्र के दुष्कृत्य के लिए जनता से स्वयं क्षमा याचना की। अश्व से वे उतर पड़े। मंत्री को उन्होंने आदेश दिया—समस्त ग्रामवासियों के लिए शिविरों की व्यवस्था की जाय। इनकी भोजनादि की सारी आवश्यकताएँ पूर्ण की जायें। शीघ्र ही एक नया गाँव निर्मित कर इन लोगों को उसमें बसा दिया जाय।

देवराज की काली करतूत पर महाराज लज्जित थे। सिर झुकाये वे मुड़े और धीमे कदमों से राजभवन की ओर बढ़ गये। इस प्रसंग ने नरेश वीरसेन के निश्चय पर पुनः मुहर अंकित कर दी कि देवराज कदापि उत्तराधिकारी बनने योग्य नहीं है। उन्होंने निश्चय कर लिया कि यथाशीघ्र किसी उपयुक्त समय पर वत्सराज को युवराज घोषित कर दिया जाय। धारिणी तो उनकी अर्द्धांगिनी थी। उन्होंने महारानी के साथ विचार-विमर्श किया और अपनी धारणा व्यक्त की। महारानी को आशंका थी कि देवराज ऐसे किसी निश्चय को विरोध-हीनता के साथ स्वीकार करने वाला नहीं, फिर भी महारानी शान्त रहीं""""""कोई प्रतिक्रिया उन्होंने नहीं दी। महाराज के अध्ययनशील नेत्र रानी के मुखमण्डल पर टिके रह गये। चारों ओर का सन्नाटा और अधिक गहरा गया।

२

क्षितिप्रतिष्ठितपुर में सर्वत्र सन्नाटा छा गया। सभी उदास, निराश और घोर दुःखी थे। शोक की मानो एक गाढ़ी पर्त ही कुहरे की भाँति सारे वातावरण में छा गयी थी। महाराज वीरसेन की मृत्यु ने हँसते-खेलते, जीते-जागते राज्य को जड़-सा बना दिया। महाराज के न रहने से एक विचित्र रिक्तता, एक शून्य व्याप्त हो गया था। राजभवन के ध्वज झुका दिये गये। विशाल जनपथ सूने पड़े थे। नगर में कहीं कोई सक्रियता दिखायी नहीं देती थी।

गत संध्या से ही रह-रहकर अपशकुन हो रहे थे। महारानी धारिणी का हृदय धक्-धक् कर रहा था। सारी रात कुत्ते रोते रहे। सारी सावधानी रखते हुए भी दीपक बार-बार बुझ जाता और महारानी अनिष्ट की आशंका से काँप जाती थीं। प्रातः हल्की धूप में भी कुछ बूँदा-बाँदी हुई। जन-जन का हीया काँप उठा। कुछ समय में तो जगल की अग्नि की भाँति यह समाचार सर्वत्र फैल गया कि महाराज वीरसेन नहीं रहे। प्रजा के लिए महाराज पितृवत् थे। उनकी कल्याण कामना के साथ घर-घर में धर्माराधना होती रही।

महारानी धारिणी पर तो विपत्ति का पहाड़ ही टूट पड़ा था। वे मूच्छित पड़ी थीं। दुःख-दग्धा सोमश्री उनकी शुश्रूषा में लगी थीं। शोक-संतप्त वत्सराज की भी एकमात्र आश्रय वे ही थीं। सोमश्री की दोहरी भूमिका थी। राजभवन में भीतर ही भीतर इस घोर शोक के साथ-साथ एक चेतना, एक हल-चल और थी। कुमार देवराज के समर्थक जन किसी दौड़-धूप में लगे हुए थे। बिना किसी आहट और शोर के मानो वे किसी महत्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न कर लेना चाहते थे।

रात का अँधेरा सामान्यतः कष्टकर होता है, किन्तु अपराधियों के

लिए यह सुखकर होता है। महाराजा का मरण भी इसी प्रकार देवराज को अपने पक्ष में हितकर लगा। महाराजा उसके स्थान पर वत्सराज को क्षितिप्रतिष्ठितपुर का नरेश बनाना चाहते हैं—यथासमय उसे इसकी भनक पड़ गयी थी। धारिणी के माध्यम से दोनों भाइयों को यह तथ्य ज्ञात हो गया था। कुछ ही समय पश्चात एक विशाल समारोह में महाराज वत्सराज को युवराज भी घोषित करने वाले थे। नियति का खेल है कि ऐसा सम्भव नहीं हो पाया। महामन्त्री को महाराज के संकल्प और कामना की जानकारी थी। इस सारी स्थिति से ज्येष्ठ कुमार देवराज भलीभाँति अवगत था। महामन्त्री की ओर से उसका मन पहले से ही इसी कारण शंकित था।

महाराजा वीरसेन अस्वस्थ हो गये। उन्होंने शैया पकड़ ली। भाँति-भाँति के उपचार-चिकित्साएँ की गयीं, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। उनकी स्थिति उत्तरोत्तर गिरती ही चली गयी। उनके स्वस्थ होने की कोई आशा शेष नहीं रही। महामन्त्री बार-बार कोई बात महाराज से करना चाहते थे। महाराज भी कोई व्यवस्था देना चाहते थे—ऐसा स्पष्ट आभासित होता था, किन्तु देवराज अथवा उसके किसी सशक्त समर्थक की उपस्थिति में ऐसा कुछ सम्भव नहीं हो पाया। देवराज बड़ा नीतिज्ञ था। उसने पूरी चौकसी जमा रखी थी। वह नहीं चाहता था कि उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही अंकुरित भी हो।

महाराज की रुग्णता ने देवराज को पर्याप्त सुविधाजनक स्थिति प्रदान कर दी थी। इस अवधि में देवराज ने स्वयं को भावी शासक बनाने की सारी तैयारी पूरी कर ली। महाराज वीरसेन के संकल्प को निरस्त करने की पर्याप्त क्षमता उसने प्राप्त कर ली। उसे महाराज के स्वर्गवास के पश्चात वत्सराज का पक्ष लेने के विषय में माँ से तो इतनी आशंका नहीं थी, किन्तु महामन्त्री से वह पूर्णतः सशंक था। महामन्त्री स्वर्गीय महाराज की अन्तिम इच्छा के नाम पर वत्सराज का राज्याभिषेक करवा सकते हैं—वे इस दृष्टि से सक्षम भी थे। देवराज इस सारी परिस्थिति से भली भाँति अवगत था। बड़ी सतर्कता के साथ उसने सारी परिस्थितियों को समय रहते ही नियन्त्रित कर लिया था। मन्त्रिपरिषद् में उसने अनैक्य निर्मित कर दिया था। परिणामतः एक शक्तिशाली गुट देवराज का समर्थक हो गया था। सभी को भाँति-भाँति के प्रलोभन देकर देवराज ने क्रीत समर्थक बना लिया था। मन्त्रिपरिषद् का एक युवा सदस्य धीरजसेन से तो उसे

विशेष ही अनुमोदन प्राप्त था। देवराज भी धीरज के प्रति कुछ अधिक ही आश्वस्त था। धीरजसेन के साथ मिलकर ही उसने एक पूरी योजना तैयार कर ली थी। धीरजसेन के प्रभाव-क्षेत्र में अनेक मन्त्रीगण, सेना-नायक, अधिकारीगण आदि थे। वह बहुत महत्वाकांक्षी था। अल्पायु में ही वह सर्वोच्च उपलब्धि कर लेना चाहता था। परिणामतः उसने देवराज की इतनी समीपता ग्रहण कर ली थी। वह देवराज का अत्यन्त विश्वसनीय सहकारी हो गया था।

महाराज वीरसेन के निधन पर जब सारा राजभवन, सारा राज्य शोक-मग्न था; देवराज, धीरजसेन और उनके सहयोगी अपनी योजना पूर्ण करने में लगे थे। पिता के मरण से देवराज की कामनाएँ पूर्ति के समीप आ गयी थीं। वह प्रसन्न था, उमंगित और उल्लसित था। जब धीरजसेन ने आकर समाचार दिया कि महामन्त्री को बन्दी बना लिया गया है तो देवराज की बाँछें खिल गयीं। उसका हृदय बांसों उछलने लगा। उसके मार्ग का एक रोड़ा हट गया। अत्यन्त त्वरा के साथ अब उसने राज्य की सेना पर अधिकार कर लिया, राजकोष को भी उसने तुरन्त हस्तगत कर लिया। राज-प्रशासन पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर देवराज ने अपनी स्थिति को अत्यन्त सुदृढ़ कर लिया। इस सारे उपक्रम के पश्चात वह शोक संतप्त सा मुँह लटकाकर अपनी माँ के पास पहुंचा, लम्बी-लम्बी निसांस डालने लगा।

राजपुरोहित जी ने देवराज के राज्याभिषेक का शुभ मुहूर्त निर्धारित किया। राजभवन के विशाल कक्ष में महाराज वीरसेन का पार्थिव शरीर अवस्थित था। रेशमी वस्त्रों से, पुष्पहारों से आच्छादित शव एक उच्च पीठिका पर रखा गया था। चारों ओर अगरु धूम्र से वातावरण सुवासित कर दिया गया था। सर्वस्व वंचिता धारिणी, अनाथ वत्सराज, उसकी बड़ी माँ सोमश्री समीप ही बैठे आँसू बहा रहे थे। नगरवासी पंक्ति बनाकर आते, महाराज के चरण स्पर्श करते, पुष्पांजलि अर्पित करते, सजल नयनों से प्रदक्षिणा करते और महाराज को टुकर-टुकर निहारते हुए चले जाते। विशाल जन समूह राजभवन के प्रांगण में एकत्र था।

राजभवन के दूसरे भाग में एक सादे समारोह में देवराज का राज्याभिषेक चल रहा था। राजपुरोहित ने मन्त्रोंच्चार के साथ देवराज को राज्यासन पर आरूढ़ किया। उसको राजमुकुट धारण कराकर पुष्प वर्षा

की। राजतिलक उसके भाल पर जगमगा उठा। उपस्थित जनों ने अपने नये महाराज पर अक्षत-पुष्प की वर्षा कर उनका अभिनन्दन किया। यह उनका इस राज्याभिषेक के प्रति अपना अनुमोदन था। राज्याभिषेक की विधि सम्पन्न हुई। महाराज देवराज की जय-जयकार से वातावरण गूंज उठा। जय ध्वनि की हल्की सी गूंज माँ धारिणी के कानों में भी पड़ी—वे चौंक उठीं। वत्सराज ने भी सुना, वह निर्विकार बैठा रहा। समारोह विसर्जित होने के पूर्व महाराज देवराज ने धीरजसेन की महामन्त्री के रूप में नियुक्ति घोषित की। पुनः नये महाराज और नये महामन्त्री की जय-जयकार हुई।

राज-मुकुट धारण किये हुए देवराज प्रांगण की ओर चला। पीछे-पीछे महामन्त्री धीरजसेन और अन्य सभ्य जन थे। देवराज ने पिता के चरण स्पर्श किये, माता को नमन किया और एक ओर खड़ा हो गया। राजपुरोहित जी ने मन्त्रोच्चार पूर्वक पार्थिव शरीर का अर्चन किया और विधिपूर्वक अर्थी को राजभवन से विदा किया। चारों ओर हृदय विदारक कोहराम छा गया। वातावरण महिलाओं के करुण क्रन्दन से भर गया। धारिणी की तो अत्यन्त दयनीय दशा थी।

शवयात्रा आरम्भ हुई। द्वार पर विपुल दान दक्षिणा दी जा रही थी। अर्थी पर खील-फूलों की वर्षा होती जा रही थी, स्वर्ण मुद्राएँ लुटायी जा रही थीं। देवराज ड्योढ़ी तक पहुँचकर लौट आया। शोकग्रस्त वत्सराज शवयात्रा में आगे हो गया। पीछे-पीछे विशाल जन समूह गतिशील था। मार्ग में जन समुदाय दर्शनार्थ भी एकत्र थे। पूरे मार्ग में पुष्प वर्षा होती रही। महाराज वीरसेन की यह अन्तिम यात्रा थी।

३

देवराज क्षितिप्रतिष्ठितपुर का नया राजा हो गया। उसकी सतर्कता ने उसके मार्ग को निष्कंटक कर दिया था। पिता के संकल्प का दुष्प्रभाव टालने में वह सर्वथा सफल रहा। उसके राज्यारोहण से कदाचित धीरजसेन सर्वाधिक प्रसन्न था। उसे महामन्त्रित्व का गौरव जो प्राप्त हुआ था। धारिणी को तो राजमाता होना ही था—चाहे देवराज राजा बन गया और चाहे वत्सराज बन जाता। उसकी गरिमा ज्यों की त्यों बनी रहती। देवराज के राजा बनने पर वह तटस्थ ही रही। सोमश्री की स्थिति यह थी कि—"कोऊ नृप होउ हमें का हानि।" वत्सराज की प्रतिक्रिया भी ध्यातव्य थी। वह तो बड़ा सरल मन और संस्कारशील था। आरम्भ में जब उसके युवराज घोषित किये जाने की चर्चा थी तब भी वह यही कहा करता था कि पिताजी की इच्छा का उल्लंघन तो मैं नहीं कर सकता। उनके आदेश से मैं राजा भले ही बन जाऊँ, तथापि अपने अग्रज का मैं सेवक ही रहूँगा। उसे देवराज के शासक बन जाने का कोई दुःख नहीं था। सभ्यों, दरबारियों, मन्त्रियों के लिए राजनियमानुसार देवराज का शासकत्व मान्य था ही।

मात्र प्रजा को खिन्नता थी कि वत्सराज के स्थान पर देवराज नरेश हो गया। वह अपने क्रूर कर्मों, निर्दयता, अनैतिक आचरण और दुष्टता के लिए पहले से ही कुख्यात था। उसके शासक हो जाने के कारण अन्याय और अत्याचार के साम्राज्य की कल्पना से ही सामान्यजन सिहर उठते थे। जनप्रियता वत्सराज के पक्ष में थी। केवल परम्परा ही देवराज की अनुमोदिका थी। देवराज स्वयं भी सशंकित था कि वत्सराज की लोकप्रियता कभी भी उसके लिए समस्या बन सकती थी। वह दूरद्रष्टा था, नीतिज्ञ था। वह एक बार ही अपना राज्यत्व निर्बाध कर लेना चाहता

था। महामन्त्री धीरजसेन ने मन्त्रणा दी कि 'न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी' का मार्ग अपनाना ही श्रेयस्कर रहेगा। वत्सराज का काँटा सदा-सदा के लिए निकाल बाहर किया जाना चाहिये।

वत्सराज जैसे सुशील अनुज के लिए किसी अपराध की कल्पना करना भी बड़ा दुष्कर था। नृपति देवराज का—उसके शासन काल का यह प्रथम न्याय प्रकरण होने वाला था जिसके लिए दण्ड का विधान पूर्व निर्धारित था—'निष्कासन'। अपराध की कल्पना अभी को जानी शेष थी। अन्ततः राजद्रोह के अपराध में उसे दण्डित किया गया। उपकार यह जताया गया कि वत्स यदि राजा का अनुज नहीं होता तो प्राणदण्ड ही दिया जाता। वत्सराज को तत्काल राज्य छोड़कर चले जाने का निर्णय सुनाया गया। वत्सराज ने इस पर भी अपनी कोई प्रतिक्रिया नहीं जतायी।

वत्सराज तो जैसे इस नियति के लिए पूर्वरूप से ही तत्पर था। जो अपराध लगाया गया था वह उसकी काल्पनिकता से परिचित था ही। उसने किसी प्रकार से इसका प्रतिकार करना व्यर्थ समझा। इसकी अकारणता को सिद्ध करने की भी उसकी कामना नहीं थी। नव-नरेश देवराज ने जब अपना निर्णय सुनाया—वत्सराज ने शीष झुकाकर उसे स्वीकार कर लिया, चुपचाप दरबार से प्रस्थान कर अपने कक्ष में आ गया। ऐसी बातों से उदास हो जाना—उसका स्वभाव नहीं था। गवाक्ष से दूर-दूर के दृश्य दिखायी देते थे। उन्हें आज वह अंतिम बार, जी भरकर देख लेना चाहता था। शान्त, गंभीर वत्स विचारों में खो गया।

वत्स सोचने लगा – राजा बन जाना एक बात है और बने रहना अन्य बात है। सभी की नियति में ये दोनों बातें नहीं होतीं। अन्याय और षड्यंत्र के बल पर जिसे राज्यासन हथियाना पड़े—वह टिक नहीं सकता। देवराज नरेश हो गये हैं—यह तो ठीक है, किन्तु उन्हें कब तक जन-जन का अनुमोदन मिलता है यही प्रश्न है। वत्स के मन को इस विचार से एक स्थिरता, एक तोष मिला कि राजा बनकर भी वही राजा बना रहता है जिसके भवितव्य में होता है। मैं नरेश न हुआ तो क्या—यदि भाग्य में होगा तो मैं क्षितिप्रतिष्ठितपुर का नरेश बन ही जाऊँगा, चाहे आज निष्कासित ही क्यों न किया जा रहा हूँ। यदि भाग्य में नहीं तो इस राजभवन में रहकर भी वह सुख और गौरव कोसों दूर रह सकता है।

राजमाता धारिणी और मौसी सोमश्री ने निष्कासन की दण्ड व्यवस्था

की बात सुनी तो उन पर तो मानो गाज ही गिर पड़ी। राजमाता अपने प्रिय पुत्र वत्स के भावी संकटों की कल्पना से ही काँप उठी। मौसी भी कुछ क्षण किंकर्त्तव्य-विमूढ़ सी जड़वत् बैठी रह गयीं, मूक""अवाक्।

बड़ी देर बाद जब दोनों के चित्त सामान्यता प्राप्त करने लगे—दोनों ने एक-दूसरी की ओर देखा। दोनों की दृष्टियों में प्रश्न ही प्रश्न भरे थे।"" यह क्या हो गया? नन्हा वत्स इस बेचारे ने देवराज की क्या हानि की? इसे यह दण्ड क्यों दिया जा रहा है? क्या हमारे अनुनय-विनय करने पर वह वत्स को दण्ड-मुक्त नहीं कर सकता? प्रश्नों का प्रवाह एक के नेत्रों से दूसरी के नेत्रों की ओर चलता रहा। दृष्टि-विनिमय से दोनों एक-दूसरी की अन्तःस्थल की भावना को समझती रहीं। दोनों दुखित थीं। मौसी सोचने लगी कि अभी तो वैधव्य का दुःख ही फीका नहीं पड़ पाया और इस बेचारी पर यह नया घोर संकट छा गया है। सच है, दुर्दिन कहकर नहीं आते और जब संकट आता है तो वह अकेला नहीं आता। उसके अनेक संगी-साथी आगे-पीछे रहते हैं। सोचते-सोचते मौसी ऐसी अन्तर्लीन हो गयीं कि अर्द्धमूर्च्छित-सी बैठी रह गयीं। उनका सिर दीवार से टिक गया। जब मौसी को चेत आया तो उसने पाया, धारिणी का शीष उनके कंधे पर टिका है, वह भी सोई या अचेत-सी स्थिति में है। बड़ी सावधानी के साथ मौसी ने हौले से धारिणी का शीष हाथों में थामा, अपने स्थान से तनिक हटकर वह प्रयत्न करने लगीं कि धीमे से उसे लिटा दें। इस प्रयत्न में धारिणी की आँखें खुल गयीं। वह खोयी-खोयी-सी सोमश्री को देखती रह गयीं। "यह क्या हो गया""जीजी?" धीमे स्वरों मे धारिणी इतना ही बोल पायीं। दोनों एक-दूसरे से लिपटकर तब खूब रोयीं। हृदयस्थ पीड़ा नेत्रों के मार्ग से प्रवाहित होती रही। दोनों इस स्थिति में कब तक बैठी रहीं—स्वयं उन्हें भी ज्ञात नहीं था।

× × ×

वत्स नगर-त्याग के पूर्व माँ और मौसी से अनुमति लेने को जब आया तो उसके चरण नहीं उठ रहे थे। माँ के कक्ष में प्रवेश उसके लिए भारी हो गया था। वह सोचने लगा था कि वह इस दण्ड का समाचार उन्हें कैसे दे पाएगा! उनकी हृदय-विदारक स्थिति को कैसे देख और सह पाएगा। अपना हृदय पत्थर का बनाकर वह अन्ततः प्रविष्ट तो हो गया, किन्तु जो

कुछ उसने देखा—वह हतप्रभ-सा रह गया। माँ और मौसी आपाद-मस्तक श्वेत परिधान में तत्पर सी मानो वत्स को प्रतीक्षा में बैठी थीं। दोनों के नेत्र अरुण, पलकें सूजीं, मुख-मण्डल निस्तेज, वाणी अवरुद्ध। वत्स को समझने में कठिनाई नहीं हुई कि इन्हें पूर्व सूचना हो गयी है।

वत्स आगे बढ़ा। बड़ी माँ···माँ कहते हुए बारी-बारी से उसने दोनों के चरण स्पर्श किये और उनके समक्ष कर-बद्ध मौन बैठा रह गया। वह यह निश्चित न कर पा रहा था कि क्या कहे, कैसे कहे···। समग्र मनोबल बटोर कर उसने अपना कथन आरभ किया—बड़ी माँ, मैं देख रहा हूँ कि आप दोनों कुछ अधिक ही उदास हो गयी हैं। दुखित अपनी बात वैसे ही बड़ी कठिनाई से कह पाता है और यदि उसे दुखितों से ही बात करनी हो तो कठिनाई और भी बढ़ जाती है। "माँ! मैंने पिछले एक प्रहर में भली-भाँति समझ लिया है कि व्यक्ति के जीवन में धूप-छाँह, उतार-चढ़ाव आता ही रहता है। जो इन सभी का स्वागत करने को तत्पर रहता है—उसे ही सफलता हाथ लगती है। उसके दुःख के दिन सुख की प्रतीक्षा में कट जाते हैं।"

"तू एक ही प्रहर में कितना बड़ा हो गया रे!"—राजमाता ने कहा और उनकी आँखें छलछला आयीं। आर्द्र कंठ से बोलीं—"आने वाले संकटों ने तुझे इतना विवेकशील बना दिया, इतना गंभीर! हाय···ये दुःख भी देखना था।" राजमाता की आँखें आकाश की ओर चढ़ गयीं। इसी समय बड़ी माँ बोल उठीं—"मेरा सुकुमार फूल-सा वत्स कैसे काँटों में चल पाएगा। बेटे, तूने तनिक भी विरोध नहीं किया? पूर्व नरेश तो तुझे ही उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। तूने क्या···?" "बड़ी माँ, इसी कारण तो निष्कासन हुआ है", वत्स बीच में ही बोल पड़ा, "क्या एक भाई के राजा हो जाने पर अन्य भाइयों को वनवास भोगना पड़ता है? समस्त राजकीय सम्मान के साथ वे तब भी राजभवन में, राजपरिवार में रहते हैं। यही परम्परा रही है। पिताश्री ने परम्परा को तोड़ना चाहा···आगे की कड़ियों में भी परम्परा का इसी कारण टूटना स्वाभाविक है। उन्होंने ज्येष्ठता का सिद्धान्त छोड़कर, बड़े भैय्या के स्थान पर मुझे उत्तराधिकारी के रूप में चुना—इसी कारण तो···।" माँ तो मूक बैठी रहीं, किन्तु बड़ी माँ ने बीच में ही बात काटते हुए कहा, "लेकिन बेटे, यह निश्चय अकारण नहीं था। तेरे

पिता को तेरे प्रति अधिक विश्वास था। वे तुझे योग्य और प्रतिभाशाली भी मानते थे। तभी तो तुझे क्षितिप्रतिष्ठितपुर का भावी नृपति बनाना चाहते थे।"

"माँ···यदि यह सत्य है तो फिर चिन्ता का कोई प्रश्न ही नहीं है। पिताश्री की धारणा में मैं यदि नृप योग्य रहा, तो मैं ही नृप बनूँगा—इसमें तनिक भी संदेह नहीं। सत्य की चिनगारी कब तक मिथ्या की रूई से आवृत रह सकेगी ? सत्य इस आवरण को छिन्न-भिन्न कर एक दिन अवश्य ही प्रकट होगा—स्वयं को स्थापित करेगा। इस राज्य का अधिकारी तो एक दिन मुझे ही होना है; आज नहीं, तो कल। इस अन्तरिम काल को सहन कर लो माँ—इसी में विवेक है।" सधैर्य वत्सराज ने प्रबोधन के स्वर में कहा और उनके मुख पढ़ने की चेष्टा करने लगा।

बड़ी माँ ने कहा—"प्रतीक्षा कैसी वत्स, मैं तुझे अकेले कभी न जाने दूंगी। मैं भी साथ चलूंगी। जब से तू जन्मा है—तेरे ही साथ रहती आयी हूँ, आगे भी तेरे ही साथ रहूँगी।" "हाँ बेटे, तेरे बिना यह राजभवन हमारे लिए त्याज्य है, त्याज्य हैं यहाँ के सुख। हम दोनों को भी साथ ले ले"—राजमाता धारिणी ने कहा। वत्सराज के समक्ष एक विकट प्रश्न आ खड़ा हुआ था। अब उसे उन पोटलियों का रहस्य समझ में आया जिनका सहारा लेकर उसकी माँ और मौसी आंगन में बैठी थीं। उसका अन्तर्मन यह जानता था कि माँ और बड़ी माँ उसके बिना राजभवन में क्या कहीं भी नहीं रहेंगी। इनको वत्स से पृथक करना संभव ही नहीं था। ऐसी दशा में वत्स के समक्ष द्वन्द्व की स्थिति बन गयी थी। वह इन्हें साथ ले जाने की क्षमता भी नहीं रखता था और इनकी बात टालने का साहस भी उसमें नहीं था। किंकर्त्तव्यविमूढ़-सी स्थिति में वह कुछ मौन रहने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर सका। उसके मन के भीतर हू-हू करता हुआ भयानक अंधड़ गुजर रहा था। वह व्यग्र और अशान्त हो गया था। यह संध्या उसके जीवन में एक मोड़ लेकर उपस्थित हुई थी। एक ऐसा मोड़ जिसके लक्ष्य की कल्पना नहीं की जा सकती थी। यह परिवर्तन क्या परिणाम देगा—कोई, कुछ न कह सकता था।

बड़ी माँ ने कुरेदा—"वत्स, मौन क्यों रह गया ? ऐं···ले चलेगा न हमें भी अपने साथ !" असीम वात्सल्य पाकर गद्‌गद कण्ठ से वत्स यही कह पाया—"जैसी आपकी इच्छा माँ, मैं ही आप दोनों के साथ-साथ चलता

रहूँगा, अनुगामी बना रहूँगा।" उसका गला भर आया। आगे कुछ न कह सका।

फिर से सब ओर नीरवता छा गयी। तीनों अपने-अपने विचारों में खोये थे। भवितव्य ही तीनों के चिन्तन का विषय रहा होगा। संध्या ढलने को थी। हल्का-हल्का अंधियारा उतरने लगा था। सन्नाटा और भी गंभीर हो गया। इसी सन्नाटे को चीरता सा प्रहरी का तीव्र स्वर सब ओर लहरा गया—"सावधान ! सावधान !! पृथ्वीपति""राजराजेश्वर दीनों के नाथ""धर्म के रक्षक, न्यायपालक महाराजाधिराज देवराज महाराज पधार रहे हैं सावधान !""सावधान !!

माँ और मौसी को ये स्वर कोड़े जैसे लगे। वे सचेत भी हो गयीं, उन्हें पीड़ा भी पहुँची। उन्हें नरेश देवराज का इस समय आगमन बड़ा क्षुब्ध कर रहा था। यह क्यों आ गया इस समय यहाँ""पपड़ाये घावों को छीलने। अन्तर्मन का कुछ ऐसा भाव उनकी आँखों में उतर आया था। सहसा वे चंचल हो उठीं। वत्सराज मौन भाव से खड़ा हो गया। इसी समय देवराज ने प्रवेश किया। उसके साथ महामन्त्री धीरजसेन भी था जो कुछ दूरी पर खड़ा हो गया था। कुटिल महामन्त्री अपनी उपस्थिति कदाचित इस कारण बनाये हुए था कि कहीं नरेश कोमल और शिथिल न हो जाय—निष्कासन के निर्णय पर कहीं माता के आग्रह पर वह पुनर्विचार भी स्वीकार न कर ले। उसकी दृष्टि अन्यत्र किन्तु श्रवणेन्द्रियाँ इधर ही केन्द्रित थीं।

समीप पहुँचकर नरेश देवराज खड़ा ही हुआ था कि सादर झुककर वत्सराज ने प्रणाम किया। इस ओर की अनदेखी करते हुए वह कुछ क्षण मौन रह गया। वत्स का प्रणाम जब स्पष्टतः अनुत्तरित स्थिति को प्राप्त हो गया तो नरेश देवराज ने कहा –"प्रणाम करता हूँ माँ, प्रणाम करता हूँ मौसी !" और वह इनके हाव-भाव ताड़ने का प्रयत्न करने लगा। कुछ क्षणों की यह अवधि भी देवराज के लिए सुदीर्घ हो गयी। उसने इस रूक्षता से उकताते हुए कहा कि—"आशीर्वाद के रूप में मैं आपसे अपने प्रणाम का उत्तर चाहता था, किन्तु मेरी यह आशा आपने पूर्ण नहीं की। नया नरेश होकर मैं आपकी आशीष की कामना करता था, किन्तु मेरी यह धारणा सत्य ही घटित हुई कि तुम दोनों के मन में मेरे कल्याण की कामना, मेरी सफलता की इच्छा ही नहीं है, तुम तो इस नीच वत्सराज की हो—इसकी

चेरियाँ हो। इसके राजा न बनने से तुम्हारी छाती पर सांप लोट रहे हैं—यह मैं सोचता था—आज प्रत्यक्ष जान भी लिया है।" सहसा रोष से भर आये मन ने उसे कुछ भ्रान्त कर दिया। अपने नृपति की इस भूमिका से महामात्य दूर खड़ा प्रसन्न हो उठा।

कुछ ही क्षण मौन रहकर नृपति देवराज ने धारिणी से उन्मुख होते हुए कहा—"माँ सुनो, मौसी पर तो मेरा अधिकार नहीं है, किन्तु तुम तो पक्षपात न करो। मैं क्या तुम्हारा जाया पुत्र नहीं हूँ। क्यों अपनी ममता का आंचल मेरे सिर से बरबस खींचती चली जा रही हो'''तुम्हारे नेह पर मेरा भी अधिकार है, अपितु अधिक सबल अधिकार है'''मुझे यों तो निराश न करो।" गिड़गिड़ाहट उसके स्वर में आने को ही थी कि दूर खड़े महामन्त्री ने जोर से खंखारा। राजा के स्वर में खरखराहट और कटुता चढ़ गयी। उसने कठोरता के साथ कहा "माँ, आशीर्वाद न देना चाहो, तो न दो। मुझे तुम्हारे आशीर्वादों की भूख भी नहीं है। राज किसी की शुभ कामनाओं से नहीं, अपने भुजबल के सहारे टिका रहता है। बिल्ली के चाहने पर छींके नहीं टूटते। जो उछलकर पा लेता है, मक्खन उसी का हो जाता है। राज-मक्खन आज मेरा है और मेरा ही रहेगा। माँ, तुम कितना ही चाह लो—वत्स को राजा के रूप में देखने का तुम्हारा स्वप्न अब कभी साकार नहीं होगा।"

खरी-खोटी सुनते-सुनते राजमाता धारिणी का हृदय विदीर्ण होने लगा था। उसने तड़प कर कहा—"भगवान कभी तो तुझे सद्बुद्धि देगा—तब तुझे अपने आज के किये पर पछतावा होगा, बेटे! मैं आज दुःखी हूँ, तेरे राजा बन जाने पर नहीं, अपितु यह मानकर कि तुझे तेरे दुष्कर्मों के बड़े भयानक परिणाम भोगने होंगे'''मेरा प्यारा बेटा कैसे सहन करेगा उन सब को'''यह सोच-सोचकर मेरा हृदय फटा जा रहा है''''।"

"अब रहने भी दो माँ ये मगरमच्छ के आँसू! क्यों व्यर्थ की लीपा-पोती करती हो। पर एक बात बताये देता हूँ'''यह व्यवहार तुम्हारा अच्छा नहीं है। तुम्हारा यह पक्षपात तुमको एक दिन बड़ा मँहगा पड़ेगा''''" कहते कहते देवराज के नेत्र अरुण हो गये। माँ ने भी तुनककर कहा—"मँहगा-सस्ता तो वह देखे जिसे यहाँ रहना हो। आज ही हम लोग भी वत्सराज के साथ चल देंगी और तेरे इस पापी राज में कभी पैर भी नहीं देंगी। क्या तू! और क्या तेरा राज! कहे देती हूँ, जिस अभिमान की सीढ़ी पर तू

चढ़ता चला जा रहा है, उसके छोर से पहले तेरा पतन निश्चित रूप से आयेगा। उस धूल धूसरित अवस्था में कोई तेरी ओर झाँकेगा भी नहीं—तू और तेरा अकेलापन—बस यही रह जायेगा।" रोष से राजमाता का गला भर आया था—वह काँपने लगीं।

राजमाता के कथन का अन्तिम भाग बाण की अणी की भाँति नृपति देवराज के चित्त को सालने लगा। उसके हृदय का पुत्रत्व जागृत हो गया। मातृ-भक्ति के रग ने उसे मुग्ध कर दिया। उसके स्वर में अनपेक्षित सी कोमलता आने लगी। भर्राये कण्ठ से उसने कहा—"माँ....माँ....तुमने गृहत्याग की बात कैसे सोची! मैं चाहे न भाऊ तुम्हें, किन्तु यह घर यह राजपरिवार तुम्हारा है। मैं तुम्हें न जाने दूँगा।"

माँ बीच ही में बोल पड़ी—"मेरे लिए देवराज और वत्सराज दोनों मेरी आँखों के तारे हैं। जब तुझे इसी प्रसंग में संदेह हो गया—तो मैं तेरी जननी होकर भी माँ कहाँ रह गयी। राजभवन के सुख-साधनों की अपेक्षा अरण्य में वृक्ष की शीतल छाया अधिक श्रेयस्कर है। अब यहाँ मेरा रहना सम्भव ही नहीं रहा।" राजा देवराज किसी प्रकार यह चाहता था कि माँ वहीं रहें—अन्यथा वह घोर निन्दा का पात्र हो जायेगा। अपयश से तो दुर्जन भी भयभीत रहते हैं। उसका मन कुछ द्रवित होने लगा, तभी महामन्त्री ने बाजी सँभाली। धीरे-धीरे चरण बढ़ाते हुए वह समीप आ गया, बोला—महाराजाधिराज, क्षमा किया जाऊँ, नीति कहती है कि पुत्र चाहे राजा ही क्यों न हो—माता की आज्ञा और इच्छा उसके लिए शिरोधार्य होती है। राजमाता पर राजा के आदेश प्रभावी नहीं होते। राजमाताएँ मनोनुकूल आचरण के लिए सदा स्वतन्त्र रहती आयी हैं।" इतना कहकर धीरजसेन सिर झुकाकर कुछ चरण पीछे हटा और एक ओर खड़ा हो गया।

राजमाता धारिणी तो महामन्त्री के कथन की चुभन को सहन कर गयीं, किन्तु मौसी चुप न रह सकीं। उन्होंने आँखें कपाल पर चढ़ाते हुए कहा—"अरे! कैसा समय आ गया है। जैसा राजा वैसा ही महामन्त्री।"

इस कथन से नृपति देवराज सहसा रोष से भर उठा। उसने कहा "मौसी, मैं जानता हूँ....अच्छी तरह जानता हूँ—तुमने ही मेरे विरुद्ध माँ को उकसाया है। अन्यथा माँ तो मेरी माँ थीं। तुम सदा ही वत्स का पक्ष रखती रही हो—तुम्हारे अतिशय प्यार ने ही उसे विद्रोही बना दिया है।

तुम्हें प्यारा है न वत्स, जाओ""तुम उसके साथ चली जाओ। माँ को निष्कासन नहीं हुआ है। वे राजमाता हैं, राजभवन में रहेंगी। तुम्हारा यहाँ क्या है ?"

राजमाता यह सुनकर कसमसा उठीं। उत्तेजना भरे स्वर में उन्होंने कहा—"देवराज""देवराज""तेरा यह साहस ! जीजी का आदर तेरे पिता भी करते रहे। तूने आज इनका अपमान करके मेरा अपमान किया है। जा, दूर हो जा मेरी आँखों से। मैं तो अपनी जीजी की छाया हूँ। जहाँ-जहाँ ये जायेंगी, पीछे-पीछे मैं भी रहूँगी।"

"तो जाओ, सभी जाओ"—सिर झटकते और पाँव पटकते हुए राजा देवराज ने क्रुद्ध स्वर में कहा—"लेकिन सुनो, फिर अपना मुख कभी मुझे नहीं दिखाना। और यह भी सुन लो कि तुम लोग यहाँ से रिक्त हस्त जाओगे। अपने साथ कुछ भी ले जाने की अनुमति नहीं होगी।"

माँ धारिणी इस अपमान को सहन नहीं कर सकीं। अर्द्धविक्षिप्त सी वे उठीं और लपककर उन्होंने पोटली को खोल दिया। एक-एक वस्त्र को उन्होंने पूरी शक्ति के साथ उछाल दिया। चारों ओर सिलवटें भरे जीर्ण वस्त्र फैल गये। इस उपक्रम में वे हाँफ उठीं। उनका भाल स्वेद-बिन्दुओं से भर आया। नेत्र विस्फारित हो उठे। स्थिर दृष्टि से वे भूमि को ताकती रहीं। उन्हें ज्ञात ही नहीं हुआ कि कब राजा देवराज वहाँ से लौट गया।

विषम स्थिति तो इस समय वत्सराज की थी। वह क्या भूमिका अपनाये—यही प्रश्न उसके समक्ष बना हुआ था। उसने बड़ी माँ को सम्बोधित करते हुए कहा—"महाराज ने दण्ड भी दिया और हम पर दया भी की है। हमें उन पर रुष्ट नहीं होना चाहिए। वन मार्ग में न जाने किन-किन कठिनाइयों का सामना हमें करना पड़ेगा। ऐसे में सामान-असबाब का बोझा कैसे ढोया जाय। भगवान कल्याण करें महाराज का, उन्होंने हमें इस बोझे से मुक्त कर दिया। अब हम स्वतन्त्र विचरण कर सकेंगे। माँ, तुम व्यर्थ ही कुपित होती हो।" अब तक माँ स्वतः ही कुछ सामान्य होने लगी थीं। उनका राजमातृत्व अब उनके लिए त्याज्य है—यह विचार उनके मन में घर करने लगा था। सर्वसामान्य सा, जनजीवन ही अब उनका आदर्श होगा—यह धारणा उनको सामान्य बनाने में सफल होने लगी। जीजी सोमश्री का शान्त, गम्भीर, अचंचल व्यवहार भी उन्हें प्रेरित करने लगा। राजमाता धारिणी अब निष्कासित वत्सराज की माता के

गौरव को अनुभव करके दीप्त हो उठीं। उनका क्षोभ धुल गया। तब तक रात्रि उतर आयी थी। अँधेरी रात में तीन प्राणी राजसी सुखों का परित्याग कर राजभवन से बाहर निकल आये। अपेक्षाकृत कम जनसंकुल रहने वाले मार्गों से होते हुए ये नगर द्वार से बाहर हो गये। द्वार के बाहर वत्सराज करबद्ध हो खड़ा था, उसका मस्तक ऊँचा और नेत्र आत्मविश्वास के साथ विकसित हो उठे थे। उसने मन ही मन संकल्प धारण किया कि वह अन्यायपूर्वक निष्कासित किया गया है, किन्तु एक दिन वह नरेश होकर मातृभूमि को लौटेगा, वह अन्याय का प्रतिकार करेगा और सत्य व धर्म की पुनर्स्थापना करेगा। इसके साथ ही उसने नमित होकर मातृभूमि को प्रणाम किया। नीचे झुककर उसने धरती के रजकण उठाये और अपने शीष पर चढ़ा लिये। त्वरा के साथ उसने नगर की ओर पीठ करली। माँ—बड़ी माँ अब तक कुछ आगे बढ़ गयी थीं। वत्सराज तीव्र गति के साथ उनकी ओर आगे बढ़ गया।

४

समय परिवर्तनशील है। समय ही महान है—स्वयं मनुष्य नहीं। यह किसी का शुभ समय ही है, जो उसे गरिमा और यश प्रदान कर देता है, उसे महान बना देता है। समय के रूठ जाने पर दुर्गति ही प्रारब्ध में शेष रह जाती है। उस विशाल वृक्ष के नीचे, सोने का प्रयत्न करती धारिणी के मन से होकर यह विचार-प्रवाह गुजरता चला जा रहा था। अँधेरी रात में उसे कुछ पहचान नहीं हो सकी कि यह कौन सा वृक्ष है। वह अपनी जीजी और वत्स के साथ इसकी छाया में विश्राम के लिए रुकी थीं। तीनों यहीं लेट गये थे कि प्रातः होने पर फिर यात्रा आरम्भ कर देंगे। वृक्ष की एक जड़ कुछ बाहर उभर आयी थी, उसी को उसने तकिया बना लिया था। उसे लग रहा था कि काफी रात गये तो वे लोग यहां पहुँचे थे, उसके पश्चात भी इतना समय निकल गया। अब भोर समीप ही होनी चाहिये। परन्तु भोर तो आने का नाम ही नहीं लेती। और वह फिर विचारों में लीन हो जाती।

धारिणी को आज की रात क्षण भर भी नींद नहीं आयी। रह-रह कर वह जीवन की विभिन्न घटनाएँ स्मरण करती रही। उसे ध्यान आता था अपने मान-सम्मान का, मर्यादा का, उसे स्मरण हो आता था राजसी वैभव और वे सुख-सुविधा भरे दिन। धारिणी को महाराज वीरसेन की मान-मर्यादा और प्रजावत्सलता भी स्मरण होती थी, तो उनका अपने प्रति निर्मल अनुराग भी ध्यान में आता और उसकी पलकें आर्द्र हो उठतीं। धारिणी जो कभी राजरानी थी, आज साधारण स्त्री बनी अपने भवितव्य की प्रतीक्षा में है। वत्स बेचारा मखमल के पाँवड़ों पर चलने को उत्पन्न हुआ था, आज ठोकरें खा रहा है। यही तो समय का फेर है। कुछ समय इसके पिता और जीवित रहते तो वत्स नरेश होता, देवराज की दशा न जाने क्या होती।

देवराज ने यह ठीक नहीं किया। महाराज की आत्मा उसे कभी क्षमा नहीं करेगी। धारिणी अपनी दुर्गति से नहीं, वत्स के दुःखों से दुखी थी। उसने अब तक की यात्रा में उस कोमलगात्र राजकुमार को धूप, आंधी, वर्षा से जूझते देखा है। जहाँ कुछ क्षणों के लिए विश्राम हेतु रुकते, उसने वत्स को वृक्ष के पीछे एक ओर जाकर पैरों से कांटे निकालते देखा है। वत्स अपने कष्ट का आभास कराकर भी हमें दुःखी नहीं करना चाहता। उसके मुख पर थकान भले ही छायी रहे, पर राजवंशोचित आभा में कोई अभाव नहीं आ पाया था। उसने इस प्रवास में भूख-प्यास भी सहन की है, थकान और शारीरिक पीड़ा भी।

धारिणी के मानस से होकर विचारों का प्रवाह निकल रहा था। सहसा इस प्रवाह में एक मोड़ आया। वह सोचने लगी—वैभव विलास के वे दिन न रहे—तो कष्ट के ये दिन भी नहीं रहेंगे। एक दिन हमारी विपत्तियाँ भी समाप्त होंगी—सुख का सूर्य कभी हमारे जीवन में भी उदित होगा। वह यह सोच ही रही थी कि उसे दूर से आता संगीत का एक स्वर सुनायी दिया। वह अपनी सारी चेतना उसी ओर केन्द्रित कर सुनने लगी। उसे लगा कि स्वर समीप से समीपतर होता जा रहा है। अब बोल भी कुछ स्पष्ट होने लगे। धारिणी को लगा, कुछ महिलाएँ भक्तिगीत गाती हुई इसी ओर आ रही है। उसका अनुमान सत्य ही निकला, महिला-समूह कुछ दूरी से होकर आगे निकल गया। उसे इस निष्कर्ष पर पहुँचने में विलम्ब नहीं हुआ कि पिछली रात का समय आ गया है और समीप ही कोई नदी आदि है जहाँ ये स्त्रियाँ स्नान करने गयी हैं। तो आज की सारी रात ही आँखों में निकल गयी। वह उठ बैठी और आँखें मलकर केशों पर हाथ फिराती हुई खड़ी हो गयीं। जीजी भी पास में ही लेटी थीं। वह भी उठ खड़ी हुईं। संक्षिप्त सी बातचीत के पश्चात ये दोनों भी उसी दिशा में बढ़ गयीं जिस ओर स्त्रियाँ गयी थीं। कुछ दूरी पार करने पर उन्हें स्वर भी फिर से स्पष्ट सुनायी देने लगा। उन्हें सुनायी दिया 'शिप्रा मैया का जय-जयकार'। उनकी समझ में आ गया कि स्त्रियाँ शिप्रा स्नान को जा रही हैं, अर्थात् ये शिप्रा-तट के समीप हैं।

धारिणी और सोमश्री जब शिप्रा स्नान करके अपने स्थान पर लौटीं —प्रातः होने आया था। वत्सराज अब भी सोया था। उसके मुख पर शांति की भावना फैली थी, जिसे देखकर मौसी के मन में अमित सन्तोष उत्पन्न

हुआ। उन्होंने वात्सल्य भरे स्वर में वत्स को पुकार कर कहा—बेटे, उठो ! दिन निकल आया है। कब तक सोते रहोगे !!

वत्स की निद्रा तो कभी गहरी नहीं होती थी। वह सदा सतर्क सा रहा करता था। पुकार सुनकर वह भी उठ बैठा। माँ-मौसी के चरण स्पर्श कर कुछ क्षण प्रणाम मुद्रा में वह खड़ा रह गया। दोनों की आशीषे उसे मिलीं—कुछ मुखर रूप में और अनेकानेक मूक रूप में।

अब प्रातः का प्रकाश व्याप्त हुआ तो इन लोगों को अपने इस विश्राम-स्थल का आस-पास का पता लगने लगा। रात्रि में जब ये यहाँ पहुँचे थे—अँधेरे में उन्हें कुछ पता ही न चला, किन्तु यह बहुत सुन्दर सुरम्य स्थल था। चारों ओर हरा-भरा वातावरण था। कुछ दूरी पर शिप्रा का निर्मल प्रवाह भी यहाँ से अब दिखायी दे रहा था। एक ओर हटकर एक सेतु भी दिखायी देता था जो शिप्रा पार पहुँचाता था। बड़े तड़के ही धारिणी ने जब से 'शिप्रा मैया की जय'—सुनी थी, उसका हृदय धक-धक कर रहा था। दोनों बहनों के मन में एक भय व्याप्त था, किन्तु दोनों को अपनी-अपनी स्थिति का ही आभास था। दूसरी के मन में भी यही डर है—उन्हें ज्ञात नहीं था। अपने मनोभाव से कोई भी दूसरी को दुःखित नहीं करना चाहती थी। दोनों ही कदाचित इसी कारण मौन थीं। अन्ततः उन्होंने चर्चा छेड़ते हुए कहा—"जीजी, हम लोग तो शिप्रा-तट पर आ गये हैं। मेरा जी तो बैठा जा रहा है हम कहीं उज्जयिनी तो नहीं पहुँच रहे हैं। यह तो बड़ा....।"

बीच ही में बात काटते हुए जीजी ने आश्वासन और प्रबोधन के स्वर में कहा, "बहन ! क्यों चिन्ता करती हो ? शिप्रा तो महानदी है। इस पावन सरिता का प्रवाह तो जाने किन-किन भूभागों पर होकर निकलता है। अनेक ग्राम-नगर इसके तट पर बसे हैं। तुम व्यर्थ ही उज्जयिनी का स्मरण कर क्यों भयभीत हो रही हो ?"

"नहीं जीजी, मुझे न जाने क्यों ऐसा लगता है कि हम उज्जयिनी के आस-पास ही कहीं आ गये हैं। अब क्या होगा ?"

"धारिणी, पहले तो उज्जयिनी है ही नहीं। शिप्रा तट पर जो बस्ती मिले क्या वही उज्जयिनी हो जायेगी ? पगली कहीं की !! और यदि उज्जयिनी हो भी तो इसमें चिन्ता की कौन बात है ? जो होगा, देखा जायगा।"

"नहीं····नहीं जीजी हम उज्जयिनी नहीं जायेंगे, कदापि नहीं जायेंगे। वहाँ जाकर क्या हम····?"

जीजी ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—"धारिणी! तू धीरज रख। मैं वत्स को बता दूँगी—हमें उज्जयिनी नहीं जाना है। हम वहाँ का मार्ग ही छोड़ देंगे।"

धारिणी अपनी जीजी का मुख निहारती रह गयी। उसकी आँखों में एक अपूर्व शान्ति ओर अधरों पर एक क्षीण सी मुस्कान आ गयी। उसके अन्तर्मन में एक आश्वस्तता व्याप्त हो गयी। वे कुछ कहना ही चाहती थी कि शिप्रा की ओर से लौटता वत्स समीप आ गया था। वह मौन हो रहीं। कुछ दूरी पर से ही मौसी ने वत्स को पुकारा, पर फिर कुछ सोचकर मौन रह गयीं। अभी उन्होंने यह प्रश्न करना उपयुक्त नहीं समझा कि अगला नगर कौन सा आ रहा है? उन्होंने बात पलटते हुए पूछ लिया—"वत्स, अब हम यहाँ से कब प्रस्थान करेंगे? अभी ठंडा समय है। यात्रा अच्छी रहेगी न!"

"हाँ, बड़ी माँ! बस चलना ही है अब। पीने का पानी मैं लेकर ही आया हूँ। कुछ समय और रुको। मैं समीप के वन से कुछ फल-फूल ले आऊँ, अल्पाहार हो जाय तो फिर प्रस्थान करते हैं।" पानी का कलश उसने भूमि पर ठीक से जमा कर रख दिया और समीप के वृक्षों की ओर बढ़ गया।

५

सूर्य ऊपर चढ़ आया था। सामने की धूप में तीक्ष्णता थी। सेतु पर चलती धारिणी, सोमश्री और वत्स तीनों अपने-अपने विचारों में खोये हुए थे। शिप्रा के जल से शीतलता बटोरकर मन्द पवन इन्हें कुछ सुख दे जाती थी। धारिणी को इस सेतु ने कुछ क्षणों के लिए अतीतवासिनी बना दिया। उन्हें स्मरण आने लगा इसी सेतु से होकर उनका रथ निकला था, जब वे महाराज के साथ बरसों पहले उज्जयिनी गयी थीं। उनका हृदय फिर धड़कने लगा। सामने दूर पर दिखायी देने वाले नगर ने उसकी आशंका को पुष्ट कर दिया। अपने विचलन को छिपाते हुए उसने पूछा—"वत्स! यह सामने कौनसा नगर है, क्या तुम जानते हो?"

"हाँ माँ, इसे कौन नहीं जानता" कुछ क्षण रुककर वत्सराज ने गर्व के साथ कहा—"यही तो इतिहास-प्रसिद्ध नगरी उज्जयिनी है।"

माँ को एक बार फिर आघात पहुँचा। उसका मुख विवर्ण हो उठा। बोली—"बेटे, सुन, हम लोग इस नगर के बाहर से ही आगे बढ़ जायेंगे। उज्जयिनी हम नहीं जायेंगे।"

वत्स कुछ ठीक से समझ नहीं सका। उसने पूछा—"क्यों माँ क्यों? उज्जयिनी जाने में क्या आपत्ति है? बहुत सुन्दर नगर है। हम तो यहाँ कुछ समय विश्राम करना चाहेंगे।"

"वत्स, तू समझता क्यों नहीं? उज्जयिनी में रुकना ठीक नहीं। बाहर-बाहर से नहीं, तो भीतर से होकर निकल जाते हैं, पर सीधे आगे बढ़ जायंगे। यहाँ ठहरेंगे नहीं।"

"हाँ वत्स, ठीक ही तो है। तुम क्षत्रिय हो, शूर-वीर हो। तुम्हें अपना राज्य बसाना होगा। तुम्हारा जन्म ही राजा बनने के लिए हुआ है। तुम किसी अन्य राजा के राज्य में रहो—यह शोभा नहीं देता···"

"बड़ी माँ", सोमश्री आगे कुछ और कहतीं इसके पूर्व ही वत्स ने उन्हें टोकते हुए कहा—"राजा तो मैं एक दिन बनूंगा। तुम दोनों की आशीष ही इसके लिए पर्याप्त है। क्या मैं उज्जयिनी का राजा नहीं बन सकता? नया राज्य स्थापित करने की आवश्यकता कहाँ है?"

विचलित धारिणी के मुख पर भी एक क्षीण हास्य रम गया। मुस्कुराती हुई बोली—"क्यों हवाई किले बनाता है? क्या सब कुछ मात्र सोचते रहने से मिल जाता है? पुरुषार्थ करना होगा—पुरुषार्थ"।

माँ, पुरुषार्थ में मैं कभी पीछे न रहूँगा। मुझे मेरे भावी जीवन की रूपरेखा निश्चित करनी है। कुछ दिन विश्रामपूर्वक व्यतीत करने होंगे। तभी यह सम्भव होगा। दिन-रात की इस लम्बी यात्रा ने थका भी दिया है। कुछ दिन विश्राम के लिए उज्जयिनी से बढ़कर कोई उपयुक्त स्थल नहीं होगा।"

धारिणी इस कथन के खण्डन में कुछ कहना ही चाहती थी कि जीजी ने उन्हें रोक दिया। कहने लगी—"अब रहने भी दे न तू। वत्स चाहता है तो कुछ दिन उज्जयिनी में भी रह लेंगे। फिर आगे बढ़ जायंगे।"

"किन्तु जीजी, इतने बड़े नगर में हम रहेंगे कैसे? न रहने का ठिकाना, न खाने-पीने को कुछ।"

"माँ, तुम तनिक भी चिन्ता न करो। मैं जो हूँ। उज्जयिनी में घूम-फिरकर मैं कोई कार्य खोज ही लूंगा। हम तीन प्राणियों की आवश्यकताएँ ही कितनी हैं—इतना सा जुटाना बहुत दुष्कर न होगा।"

तभी सोमश्री बोल पड़ी—"करने को तो मैं भी कुछ काम तो कर ही सकती हूँ। मैं बैठी-बैठी क्या करूँगी। न हो तो कोई छोटा-मोटा काम तो मैं भी खोज लूंगी।"

"जीजी, काम करने में कौन बुराई है! काम तो तुम्हारे संग-संग मैं भी कर लूंगी। पर यह सब उज्जयिनी में रहकर करना क्या ठीक होगा? सोचने की बात यह है और भला कहाँ हम तीनों को पहले दिन ही काम मिल जायगा। संध्या तक भोजन का जुगाड़ ही कठिन हो जायगा। यह उज्जयिनी है, उज्जयिनी! साधारण ग्राम-बस्ती नहीं है।"

"भला उज्जयिनी को ऐसी-वैसी भी न समझिये बहनजी....." कुछ चरण तेजी से आगे बढ़ाकर बराबरी पर आते हुए एक सम्भ्रान्त व्यक्ति ने

कहा, "मैं धनदत्त, उज्जयिनी का ही एक व्यवसायी हूँ। क्षमा करें, आपके वार्तालाप में हस्तक्षेप तो मुझे नहीं करना चाहिए था, किन्तु आप उज्जयिनी के लिए नये-नये लगते हैं।" सोमश्री ने सकारात्मक रूप में शीष हिलाया तो आश्वस्त होकर धनदत ने कहा -"हाँ, तभी""मेरा अनुमान सत्य ही निकला। उज्जयिनी ने सदा आगन्तुकों को अपना अतिथि माना है और अतिथि को देवता-समान। उज्जयिनो में आपको कोई कष्ट न होगा। तुम तीनों मेरे घर अतिथि होकर रहोगे।"

संयोग से एक देवता-तुल्य सहयोगी पाकर सहसा तीनों को बड़ा अच्छा लगा। धनदत्त प्रातःकालीन विचरण पर निकला था। लौटकर हवेली जा रहा था। इन लोगों का वार्तालाप सुनकर उस वित्त-विवेकी को लगा कि इन्हें घर ले जाना घाटे का सौदा नहीं रहेगा। सबेरे ही श्रेष्ठिनी नाती को संभालने के लिए किसी परिचारिका को रखने की बात कर रही थी। घर के काम-काज भी बहुतेरे रहते हैं। दोनों महिलाएँ रोटी-वस्त्र में मँहगी न रहेंगी। लड़का भी कुछ काम कर लिया करेगा। कुछ क्षणों के मौन के उपरान्त श्रेष्ठी धनदत्त ने ही पुनः बात आरंभ की-"सुनिये बहनजी, आपकी स्थिति से परिचित हो जाने के पश्चात भी मैं तटस्थ रह जाऊँ, सहायक न बनूँ तो मैं अपने धर्म का पालन कैसे कर पाऊँगा। आपको 'ना' नहीं करने दूंगा।"

सवेरे-सवेरे ही, नगर-प्रवेश से पूर्व ही ऐसा सुन्दर सुयोग पाकर माँ-मौसी के साथ वत्स को भी प्रसन्नता थी। यह तो मानो सौभाग्य ने ही आकर हाथ थाम लिया था। किसी प्रकार बड़ी माँ धनदत्त की इस अकारण करुणा का मूल समझ नहीं पा रही थीं। सोचती थीं इसमें कहीं श्रेष्ठी की कोई चाल तो नहीं है। वे कुछ कहना ही चाहती थीं, बोलीं—"भैया धनदत्त जी! आपकी बड़ी कृपा है यह तो, लेकिन""" श्रेष्ठी धनदत्त ने उनकी बात पूर्ण न होने दी, बीच ही में बोल पड़ा, """ठीक है बहन जी, बिलकुल ठीक है। आप लोग साधारण जन तो प्रतीत होते नहीं। मान-मर्यादा और स्वाभिमान का ध्यान होना आप लोगों के लिए स्वाभाविक ही है। मैं भी आपके स्वाभिमान को ठेस पहुँचाना नहीं चाहता। आप बिना कुछ किये, कुछ प्राप्त करना उपयुक्त नहीं मानती हैं न! तो जब आप घर में परिजन की भाँति रहेंगे तो परिवार का काम-काज रहता ही है। उसमें हाथ बँटा दिया करें। बच्चों की देख-रेख है, पीसना-फटकना है, सफाई-धराई है। घर के काम घर के ही लोग करते हैं। मेरा धर्म भी पूरा हो जायगा और आपका मान भी रह

जायगा। अब आपको इस नगर में अनाश्रित छोड़कर मैं उज्जयिनी के अपयश का कारण न बनूंगा। आपको चलना तो मेरे साथ पड़ेगा ही।"

इसी समय वत्सराज बोल पड़ा—"श्रेष्ठी जी, आप बहुत अच्छे हैं। आपने हमारी समस्याओं को अनकहे ही समझ भी लिया और अयाचित रूप में ही उसका समाधान भी कर दिया। हम इसके लिए आपके आभारी हैं। क्या आप एक कृपा और करेंगे ? मुझे कोई काम दिलवा दीजिये न !"

श्रेष्ठी धनदत्त चलते-चलते रुक गया। मुख-मंडल पर कुछ उलझन-सी बिखर गयी। बोले—"यह काम कुछ टेढ़ा है। आगंतुकों पर सहज ही विश्वास नहीं किया जाता है न ! लेकिन तुम्हारी बात और है। तुम तो अब मेरे अपने हो गये हो। परिश्रम के बिना तुम भी कुछ नहीं ग्रहण करना चाहोगे - मैं मानता हूँ। तुम भी घर-बाहर के कामों में हाथ बटा दिया करना, बस—हो जायगी तुम्हारे व्रत की पूर्ति। चलो, अब हम सब घर ही चलते हैं।"

× × ×

विस्तृत प्रांगण में बनी विशाल हवेली। पीछे की ओर कुछ कुटियाएं बनी हुई। प्रांगण में ही एक ओर को एक कुआ था। चारदीवारी के पास पास घास-फूस उग आई थी। कुटियाओं के पास आते-आते वह काफी घनी हो गयी थी। एक कुटिया इन तीनों को मिल गयी थी। मिट्टी के कुछ बर्तन उसमें पहले से थे। दोनों बहनों ने झाड़-पोंछ कर कुटिया को जैसे-तैसे रहने लायक बना लिया। सिर ढकने को स्थान मिल गया—यही एक संतोष का कारण बन गया।

तीनों प्राणी कोमल गात्र थे, श्रमाभ्यासी भी न थे। धारिणी और सोमश्री दोनों ही धनदत्त के घर पर कठिन परिश्रम करतीं, थक जाती थीं। काम था कि कभी समाप्त होने को ही नहीं आता था। पहले ही दिन इनके सामने अनाज का ढेर लगा दिया गया था, जिसे साफ करना था। ऊपर से से श्रेष्ठिनी अपने नाती को भी सोमश्री की गोदी में डाल गयी थी। यही क्रम सदा चला करता। कुटिया में लौटते समय उन्हें दो समय का आटा-दाल दे दिया जाता था। ईंधन भी इन्हें जुटाना होता था। वत्स को एक छोटा-सा काम बता दिया गया था। वह हवेली के गाय-बछड़ों को लेकर वन में चराने जाया करता था। लौटते समय वन से कुछ सूखी लकड़ी काट-बटोर कर ले आया करता था। इस प्रकार ईंधन की पूर्ति होती।

माँ-मौसी की सूरत निकल आयी। दोनों में कुछ दुर्बलता झलकने

लगी। श्रेष्ठी धनदत्त ने जैसी लम्बी-लम्बी बातें कीं—वैसा कुछ हुआ न था, किन्तु धारिणी और सोमश्री को सुरक्षा का संतोष था। यहाँ उनके रहस्य का निर्वाह हो रहा था। इस नगर में उनका परिचय अज्ञात रहे—यह आवश्यक था। उज्जयिनी के राजवंश से इनका संबंध था। यहाँ की रानी कमलश्री धारिणी को अनुजा थी। वे पहचाने जाने से इसी कारण कतराती थीं और उज्जयिनी में रहना नहीं चाहती थीं। वर्तमान में जो आश्रय मिला था वह इस दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त था। वे प्रांगण से बाहर भी नहीं जाती थीं। नगर-भ्रमण कभी किया हो नहीं। कमलश्री तक इनके उज्जयिनी में होने का समाचार पहुँचना दुष्कर था। सारे कष्टों के उपरान्त भी यह सुख दोनों बहनों को था।

संध्या समय धारिणी चूल्हे पर दाल चढ़ाये बैठी अपनी जीजी से बातें कर रही थी। यह धनदत्त तो बड़ा स्वार्थी और लोभी निकला। हमें दास-दासियों की भाँति रखता है। काम करते-करते कमर ही टेढ़ी हो जाती है। जैसा भी है—इस नगर में इसने एक आश्रय तो दे रखा है। हमें और क्या चाहिये।

धारिणी को प्रतीक्षा थी वत्स की। वह आये तो लकड़ी मिले। चूल्हे में लकड़ी समाप्त होने को थी और भोजन बनाना अभी शेष था। "बेचारा वत्स भी कितना श्रम करता है" —मौसी बोलीं—"दिनभर वन में गायों की रखवाली करता है। लकड़ी काटता है, कावर में लादकर यहाँ तक लाता है। थक जाता होगा बेचारा वह भी। वन कौन-सा पास है।"

धारिणी ने जीजी की बात से सहमति प्रकट करते हुए भी कहा कि "जीजी! आजकल इसके लच्छन अच्छे नहीं दिखायी देते। अंधेरा होने आया—दूसरी गायें कभी की लौट आयीं। इसे इतनी देरी क्यों हो जाती है?" तभी प्रांगण में गायों के रंभाने की ध्वनि आयी। बड़ी माँ बोली—"लो आ गया वह भी।"

कांवर और कुल्हाड़ी एक ओर रखते हुए वत्स सामने आया ही था कि माँ धारिणी ने आपत्ति भरे स्वर में उसे टोका "वत्स! आज फिर देरी कर दी।" उलाहने का उत्तर कोमल वाणी में देते हुए वत्स बोला—"हो जाती है माँ, देरी। लकड़ी भी तो काटनी होती है। अब कल से जल्दी लौटूँगा माँ, बस....।" माँ प्रसन्न होकर लकड़ी लेने को कांवर की ओर बढ़ गयी और वत्स हाथ-पैर धोने को कुए की ओर। मौसी दोनों को देखती रहीं।

❀

६

वन प्रान्तर के साथ धीरे-धीरे वत्सराज की मैत्री हो गयी। वनश्री पर मुग्ध हो वह घड़ियों निहारता रह जाता। पवन की धुन पर जलाशय की लहरों का नृत्य देखते-देखते वह रीझ उठता था। वन्य पुष्पों की सुगन्ध से वह मस्त हो जाया करता था। दोपहर की घोर शांति में कभी-कभी गुंजित हो जाने वाला पक्षियों का स्वर उसे प्रियकर लगता था। गायों का चराना चाहे साधारण ही कार्य रहा हो, किन्तु वन वैभव का यह मोह उसे उसकी ओर आकर्षित कर ही लेता था। संध्या समय गायों को एकत्र कर वन से लौटना उसे अच्छा नहीं लगता। उसका मन उसी क्षण से उस समय की प्रतीक्षा करने लग जाता, जब पुनः उसे यह वातावरण सुलभ हो जायगा। धीरे-धीरे उसके लिए सूखी लकड़ी काटना और यह ईंधन ढोकर लाना भी उतना कष्टकर नहीं रह गया। इसके मिस उसे वनखण्ड के भीतर विचरण करने का अवसर जो मिल जाया करता था।

गायों को वन-मध्य के खुले स्थान पर चरने के लिए छोड़कर एक दोपहर को जब वत्स मधूक वृक्ष के नीचे बैठा सुस्ता रहा था, उसे कुछ ही दूरी से आने वाली अनेक व्यक्तियों की ध्वनि सुनायी दी। वन के इस भाग में वह पहली बार आया था। अतः समझ नहीं सका कि यह ध्वनि कैसी है। कभी कुछ बच्चों का उल्लास भरा तीव्र स्वर सुनायी देता, तो कभी बड़ी देर तक करतल ध्वनि आती रहती। वत्स के मन में कुतूहल जागा। वह मधूक के शिखर पर चढ़ गया। वृक्ष के ऊपर से उसे कुछ दूरी पर का दृश्य दिखायी दिया। उसे एक गुरुकुल सा स्थान लगा। आयताकार इस आश्रम में सामने की ओर एक तोरण द्वार था। शेष तीन ओर छोटी-छोटी कुटियाएँ थीं। मध्य में एक बड़ा, खुला खपरैल था। उसने अनुमान लगाया कि यही अध्ययनशाला होगी। इसके सामने विद्यार्थीगण धनुष बाण लिए अभ्यास कर रहे थे।

शस्त्राभ्यास ने वत्स को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वह मधूक से नीचे उतर आया और लपका उस ओर जिस ओर गुरुकुल था। एक कुटिया की आड़ में छिपकर वह आश्रम के बाहर से ही देखने लगा। विद्यार्थीगण सम्भ्रांत उच्च कुलों के लगते थे। गुरुदेव उन्हें लक्ष्यबेध का अभ्यास करा रहे थे। श्वेत रुई के फाहे को हवा में उछालकर उसे बाण की नोंक में वेध लेना था। गुरुजी ने यह करतब पहले स्वयं ही अनेक बार दिखाया, उसकी विधि समझायी। एक सुकुमार विद्यार्थी के जटामुकुट में सूखी लाल मिर्च अटकाकर उसे बेधना, पेड़ पर लटकी डोरी में ऊपर से नीचे बँधे अनेक फलों को एक ही बाण से धरती पर गिरा देना—गुरुजी ने ये सारे प्रदर्शन अपने विद्यार्थियों को दिखाये। दो बांस धरती में गाड़कर उसके मध्य बनी रस्सी पर कुछ फल लटकाये गये। रस्सी हिलती रही, फल उछलते-हिलते रहे और गुरुजी ने एक-एक कर सभी को अपने बाणों से भूमि पर गिरा दिया।

मन्त्र-मुग्ध सा वत्स छिपकर यह सब कुछ देखता रहा। उसकी सांस थमी की थमी रह गयी। गुरुजी ने प्रत्येक प्रदर्शन को विस्तार के साथ समझाया। वत्स के कान भी उधर ही लगे रहे। उसने भी धनुर्विद्या का अभ्यास किया था, किन्तु यह कुछ और ही बात उसे लगी। उसने एक-एक बात को हृदयंगम कर लिया। यदि उसके पास धनुष बाण होता तो वह अभी से अभ्यास आरम्भ कर देता। वह अपनी विवशता पर विचार कर ही रहा था कि सहसा उसे गुरुजी के शब्द सुनायी पड़े—"आज तुम लोगों ने जो कुछ सीखा है, कल उसका अभ्यास होगा। अब संध्या की तैयारी करो।" विद्यार्थीगण विसर्जित हुए। वत्स भी अब सचेतन हुआ। इतना समय जाने कैसे व्यतीत हो गया। वह भाग कर अपने स्थान पर गया। मैदान खाली पड़ा था। गायें वहाँ से चली गयी थीं। वत्स को बड़ी चिन्ता हुई। आज पहली बार गायें अकेली गई हैं। कहीं कोई अघटनीय न हो जाय। उसने कांवर कांधे पर लादी, कुठार उठाया और चल पड़ा। तीव्र वेग से वह आगे बढ़ रहा था कि गायों को बीच राह में पकड़ लेगा, किन्तु अब तक बहुत विलम्ब हो चुका था। गायों का अब रास्ते में मिलना कठिन था। अब तक तो वे घर पहुँच गयी होंगी। रास्ते भर उसके कानों में तो गुरुजी के ही शब्द गूंजते रहे। वह एक-एक करतब की सारी विधि को मन ही मन दुहराता रहा। उसे तो सारी की सारी विधियाँ स्मरण थीं।

उसे खेद इस बात का था कि उसके पास धनुष नहीं है, अन्यथा काँवर उतार कर वह अभी अभ्यास ही कर रहा होता। अभी तो उसे काँवर घर पहुँचानी है। माँ चूल्हा जलाने की प्रतीक्षा कर रही होगी। ओफ ओह! आज बहुत ही देरी हो गयी। बड़ी माँ बहुत चिन्ता करती होंगी। उसके चरण और तेजी से आगे बढ़ने लगे।

बड़ी मां को प्रांगण के द्वार पर खड़ी पाकर वत्स अकल्पनीय आशंका से भर उठा। घबराते हुए उसने पूछा—"क्या हुआ बड़ी माँ, तुम यहाँ कैसे? गायें तो पहुँच गयीं न!" "हाँ-हां, गायें पहुँच गयीं, तू घबरा नहीं।"—वत्स की पीठ पर हाथ रखते हुए बड़ी मां ने प्रश्न किया—"किन्तु तू कहां रह गया था? कहां कर दी इतनी देरी? दिया-बत्ती का समय होने आया है। श्रेष्ठी बहुत क्रोध में है। तेरी मां को बुलवाया था, हवेली गयी है। अब जा मुँह-हाथ धोकर भोजन कर ले, मेरी ओर क्या ताक रहा है।"

जब तक वत्स मुँह-हाथ धोकर कुए से लौटा—मां भी लौट आयी थी। उसे बड़ा क्षोभ था। श्रेष्ठी धनदत्त ने उसे बहुत-कुछ सुना दिया था। मां ने वत्स से कुछ रुष्ट स्वर में पूछा—क्या हो गया? आज गायें अकेली क्यों आयीं? तू कहां रह गया?

स्वर में कोमलता और नम्रता लाते हुए वत्सराज ने कहा—"मां आज जी कुछ ठीक न था, पेड़ के नीचे लेट गया तो नींद आ गयी। जब आंख खुली तो गायें निकल चुकी थीं। मैं भी भागा-भागा आया।"

"क्या हो गया मेरे लाल को""अब जी कैसा है?" वात्सल्य के माधुर्य से सिक्त स्वर में धारिणी ने प्रबोधन दिया—"बेटे! यों सो जाना अच्छा नहीं है। वे ठीक ही कहते थे। एक-आध गाय कहीं इधर-उधर रह जाती, तो? तू तो मेरा जिम्मेदार बेटा है—यों चिन्ताहीन हो जाना ठीक नहीं। आ, खाना खा ले अब।"

बड़ी मां ने भी बात को कुछ और आगे बढ़ाते हुए कहा—"बेटा, काम तो ध्यान से ही करना है। श्रेष्ठी का हम पर बड़ा उपकार है। यह आश्रय नहीं रहा तो हमारे लिए एक समस्या खड़ी हो जायगी।"

वत्स ने भी शान्ति के साथ उत्तर में कहा—"नहीं बड़ी माँ, नहीं, बात ऐसी तो नहीं है। कौन किसको आश्रय देता है!! अपना राजभवन

छोड़कर भी हम भली प्रकार से जीवित हैं, तो इस कुटिया का आश्रय छिन जाने का क्या भय मानना ! हैं ? फिर जब तक दायित्व ले रखें, उसे पूरी तरह निभाना चाहिए—यह आवश्यक है। अब भविष्य में सतर्क रहूँगा।" वत्स की बातों से दोनों का मानसिक भारीपन कुछ कम हुआ। उसके कथन का अन्तिम भाग उन्हें आश्वस्त कर गया। दोनों के मुखों पर एक कान्ति छा गयी। वत्स भोजन कर चुका था। धारिणी अपने और जीजी के लिए भोजन परसने लगी। दीपक का मन्द प्रकाश कुटिया में फैलने लगा।

७

रात्रि भर वत्स जागती आँखों से गुरुकुल के ही स्वप्न देखता रहा। भोर में भी उसमें अतिरिक्त उमंग और उत्साह दिखायी दिया। अन्य दिनों की अपेक्षा उस दिन वह कुछ जल्दी ही गायों को लेकर निकल गया। यह गुरुकुल राजघराने का था। राजा प्रसेनजित तत्कालीन उज्जयिनी-नरेश थे। कमलश्री उनकी सुन्दरी, गुणवती रानी थी। राजकुमारी श्रीदेवी दोनों के लिए प्राणों से भी प्रिय थी। वही तो राज-दम्पति की इकलौती सन्तान थी। इस गुरुकुल में राजकुमार चाहे अध्ययन नहीं करते, किन्तु राजपरिवार के अन्य कुमार, मन्त्री, सेनापति, दरबारियों के पुत्र विद्याध्ययन करते थे। एक विशेष कोटि की शालीनता और गरिमा इस गुरुकुल के वातावरण में छायी रहती थी।

गायों को समीप ही छोड़कर वत्सराज आज भी गुरुकुल की ओर चल दिया। उसने आज संकल्प कर रखा था कि गुरु-कृपा प्राप्त करके ही लौटेगा। आश्रम के द्वार पर पहुँचकर उसके पैर सहसा रुक गये। ठिठककर वह खड़ा रह गया। विद्यार्थीगण शस्त्राभ्यास आरम्भ कर चुके थे। धनुविद्या का ज्ञान हो जाने पर भी अभ्यास के अभाव में वे सफल नहीं हो पा रहे थे। गुरुजी निर्देश देते जा रहे थे। तभी एक बालक ने आकर गुरुजी से निवेदन किया—"द्वार पर एक बालक खड़ा है—आपके दर्शनों की अनुमति चाहता है।"

गुरुजी की अनुमति पाकर वह लौट गया और कुछ ही क्षणों में वह वत्स को साथ ले आया। वत्सराज ने गुरुजी को दण्डवत् प्रणाम किया और करबद्ध एक ओर खड़ा हो गया। गुरुजी ने स्नेहपूर्वक पूछा—"कौन हो तुम ? क्या चाहते हो ?"

धरती की ओर ही दृष्टि गड़ाये हुए उसने धीमे स्वर में उत्तर

दिया—"गुरुदेव, मैं वत्सराज हूँ। विद्यार्थियों को अभ्यास करते देखकर जी में आया कि मैं भी देखूं। मुझे बड़ी रुचि है धनुर्विद्या में। आपश्री की अनुमति चाहता हूँ।" गुरुजी ने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया। यही उनकी मौन स्वीकृति थी। वत्सराज कृतार्थ हो गया। गुरुजी बालकों को निर्देश देने में तल्लीन हो गये। वत्स इन अभ्यासकर्त्ताओं के प्रयासों को ध्यानपूर्वक देखता रहा। उसे इनके प्रयत्नों से निराशा हुई। सभी अपने-अपने बाण छोड़ चुके और सूखी लाल मिर्च अपने स्थान पर ज्यों की त्यों बनी हुई थी। इस प्रसंग ने वत्स को तनिक उत्साहित किया। उसने निवेदन किया—"गुरुदेव! आज्ञा हो तो मैं भी एक प्रयत्न करूँ। मुझे सफलता का विश्वास है, हाँ····जी!"

गुरुजी ने एक बार वत्स को सिर से पाँव तक देखा। उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था। उनकी मुख मुद्रा में जो भाव बिखरा हुआ था, उससे वत्स ने यह आशय ग्रहण किया कि यह साधारण बच्चा भला क्या कर सकेगा! और उसने फिर गुरुजी को आश्वस्त किया। एक कुतूहल गुरुजी के मन में भी जागृत हो गया। उन्होंने मुस्कुराते हुए अनुमति दे दी और एक बालक को संकेत किया। उस बालक ने अपना धनुष और तरकस वत्स को दे दिया। तरकस को कांधे पर लगाते हुए वत्स ने प्रत्यंचा खींच कर धीमे से छोड़ दी। धनुष की उपयुक्तता से वह कुछ निश्चिन्त और आश्वस्त हो गया। उसकी मुखमुद्रा में उमंग छायी हुई थी। आत्मविश्वास के साथ उसने तरकस से तीर निकाला और प्रत्यंचा पर चढ़ाया। एक बार उसने प्रत्यंचा को कुछ खींचकर धनुष आकाश की ओर उठाया, नेत्र मूंद कर लक्ष्य बेध की सफलता की कामना की। अगले ही क्षण उसने गुरुजी के चरणों में, धनुष सहित झुककर वन्दना की। गुरुजी ने हाथ उठाकर उसे आशीष दी और वह लक्ष्य की ओर मुड़ा। सर्वथा एकाग्रचित्त वत्सराज ने प्रत्यंचा को अब पूरी तरह से खींचा, सांस उसकी थमी हुई और सारी चेतना नेत्रों में समाकर लक्ष्यगामी हो गयी थी। सर्वत्र उत्सुकता का वातावरण था। उपस्थित बालक अपलक दृष्टि से लक्ष्य को देख रहे थे। उस निर्णायक क्षण की प्रतीक्षा में थे वे सब, जो इस नवागंतुक के यशापयश का उत्तरदायी होने वाला था। गुरुजी वत्स की सफलता की कामना के साथ उसे निहार रहे थे। सहसा प्रत्यंचा की टंकार हुई। वत्स तनकर सीधा खड़ा हो गया। उसी समय करतलध्वनि से, सफल वत्सराज का अभिनन्दन किया। कुछ ही

क्षणों में एक बालक वह बाण उठाए दौड़ता हुआ आया, इसकी नोंक में मिर्च बिंधी हुई थी। गुरुजी की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। उनके मुखमण्डल पर दीप्त हास बिखर गया। पाँवों पड़ते वत्स को उन्होंने गले लगा लिया। बोले—"वत्स ! हम तुम्हारी निपुणता से बहुत प्रसन्न हुए। जगत में तुम्हारा यश अमिट रहेगा। धन्य हो तुम और धन्य हैं तुम्हारे आचार्य जिन्होंने तुम्हें ऐसी सुन्दर शिक्षा व योग्यता प्रदान की।"

वत्स ने शीष झुकाकर कृतज्ञता प्रकट की और अन्य लक्ष्यों के संधान की अनुमति चाही। गुरुजी ने भी तब प्रसन्न होकर कहा—"ठीक है, हम भी तुम्हारा कौशल देखेंगे।" वत्स उस वृक्ष के नीचे पहुँच गया जिसकी एक शाखा से अटकी डोरी में ऊपर से नीचे अनेक फल बंधे थे। एक घुटना भूमि पर टिकाए और दूसरे को समकोण बनाये वत्स ने धनुष ऊपर उठा कर पूर्ण शक्ति के साथ बाण छोड़ दिया। उसी क्षण सारे फल धरती पर टपक पड़े। उसने ऊपर से गिरते रूई के फाये को भी सामने से तीर चला कर बेध दिया और हिलती रस्सी में बँधे उछलते फलों को भी उसने एक-एक कर नीचे गिरा दिया।

गुरुकुल का सारा वातावरण अद्‌भुत-अपूर्व उल्लास से भर गया था। सभी के होठों पर मुस्कान और जिह्वा पर वत्स की प्रशंसा के स्वर थे। विद्यार्थियों के बीच गुरुजी और वत्सराज दोनों आनने-सामने खड़े थे, मानों प्रश्न और उत्तर परस्पर संगति दे रहे हों। हर्ष-ध्वनि करते हुए बालकों को गुरुजी ने शांत किया और कहा—"विद्यार्थियो, वत्स भी तुम जैसा ही किशोर है। आज तुमने इसके कौशल को देखा। तुम्हारे लिए इसकी दक्षता अनुकरणीय है। किसी भी गुरुकुल के यश के लिए ऐसे विद्यार्थी की उपस्थिति ही पर्याप्त होती है। तुम जानना चाहोगे कि वत्स का पूरा परिचय क्या है—यह स्वयं वही तुम्हें बताएगा।"

विनयपूर्वक वत्स ने निवेदन किया—"पूज्य गुरुदेव, भाइयो—मेरा कोई विशेष परिचय नहीं। मैं तो एक साधारण सा बालक हूँ। नगर के एक श्रेष्ठी की गायें चराता हूँ। विधवा माँ और मौसी का अपार स्नेह मिलता है मुझे। अब गुरुदेव की कृपा की आकांक्षा है। नियमित अभ्यास का अभिलाषी हूँ। यदि गुरुदेव ने मुझे अपना शिष्य स्वीकार कर लिया तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। शस्त्र और शास्त्र दोनों विद्याओं का अभ्यास करना चाहता

हूँ। गुरु-कृपा के बिना यह सम्भव नहीं।" एक क्षण मौन रहकर उसने नमन पूर्वक पुनः कहा—"मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लीजिये गुरुदेव!"

गुरुजी ने तत्काल अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। वत्स को तो जैसे स्वर्ग-द्वार खुला मिल गया। उसकी प्रसन्नता का कोई ओर-छोर ही नहीं रहा। सायास उपलब्धि अचरज नहीं, सच्चे सुख का कारण बनती है। ऐसा सुखानुभव वत्स ने पहली बार ही किया। उसे साधना-पथ मिल गया था। सच्चा साधक बन, अब वह सिद्धि तक अवश्य ही पहुँच जायगा—उसे आत्मविश्वास होने लगा था।

उस सन्ध्या को भी वत्स असाधारण विलम्ब से ही पहुँचा और गायें उससे पूर्व अकेली पहुँच गयीं। संयोग से एक बछड़ा भी इधर-उधर को नहीं हुआ। हाँ, ऐसा होने की आशंका तो रहती ही है और इसी आशंका ने श्रेष्ठी धनदत्त को कुपित कर दिया। वह इस कारण और भी अधिक कुपित था कि वत्स पर चेतावनी का भी कोई प्रभाव नहीं हुआ और आज फिर उसने वही उपेक्षा बरती। आज वह स्वयं ही धारिणी की कुटिया पर आया और अनेक ऊँची-नीची सुना कर गया। कहता था क्या रोज-रोज सोने के लिए ही तुम्हारा बेटा वन को जाता है। बेचारी गायें अनाथ सी डोलती रहती होंगी वहाँ, फिर उसे भेजने से लाभ हो क्या? जाते-जाते श्रेष्ठी यह धमकी भी दे गया था कि यदि वह इतना सा काम भी सावधानी के साथ नहीं कर सके—तो फिर उससे कह देना अपनी कोई और राह सोच ले।

चिन्तित स्वर में माँ ने जब यह बातें बतायीं तो वत्स तनिक भी उद्विग्न नहीं हुआ। धीरतापूर्वक उसने कहा—"माँ, अन्य राह तो मैं सोच ही चुका हूँ। श्रेष्ठीजी का हम पर अत्यन्त उपकार है कि उन्होंने हमें आश्रय दिया, आजीविका दी। माँ, किन्तु मैं गो-चारण के लिए उत्पन्न नहीं हुआ। मैं क्षत्रिय-कुल का हूँ। मुझे शूर-वीर, पराक्रमी बनना होगा। राज्यत्व मेरा लक्ष्य है माँ, मैं शासन करने के लिए उत्पन्न हुआ हूँ और अपने भुज-बल से मैं अपने इस ध्येय को प्राप्त करके रहूँगा।" वत्स के स्वर में अहं नहीं, आत्म-गौरव की झलक थी। आत्मगौरव और आत्मविश्वास ही महत्वाकांक्षा की नींव होती है।

माँ धारिणी को भी और मौसी को भी—दोनों ही को वत्सराज की

धारणा अच्छी लगी, किन्तु माता धारिणी को आशंका यह थी कि वत्स कहीं अनपेक्षित आतुरता तो नहीं कर रहा है। अभी वह समय आया ही कहाँ है जब वह ऐसा चरण उठा सके। अभी हम अपने पैरों पर खड़े तो हो लें। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर माँ ने स्नेहपूर्वक सम्बोधन देते हुए कहा—बेटे, तू ठीक सोच रहा है। नरेश तुझे एक दिन बनना ही है—तेरे लक्षण इसका स्पष्ट संकेत देते हैं, पर जल्दबाजी से सारे बनते काम भी बिगड़ जाते हैं। ऐसे गम्भीर प्रसंगों में सोच-विचार कर काम करना होता है, उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करनी होती है। अभी हमें श्रेष्ठी जी के आश्रय की आवश्यकता है। यदि तुम इसी प्रकार अनुत्तरदायी बने रहे तो यह आश्रय तो छिन ही जायेगा। जरा सोचो बेटे, हम सहसा कहां जायंगे ! कौन हमें काम देगा, बसेरा देगा !!

"माँ, चिन्ता न करो। जब उदर मिला है तो आहार भी अवश्य ही मिलेगा। श्रेष्ठीजी का आश्रय हम कभी छोड़ना नहीं चाहेंगे, किन्तु यदि वह हमें नहीं चाहेंगे तो भाग्य कोई अन्य साधन रचेगा हमारे लिए। हाँ, इतना अवश्य है माँ, कल से मैं गुरुकुल में अध्ययन करने जाऊँगा। श्रेष्ठी धनदत्त की गायों को चराने के लिए जाना अब मेरे बस का नहीं।

"गुरुकुल ?"

"हाँ""गुरुकुल में माँ, गुरुकुल में"—उत्तर देते हुए वत्सराज के मुख-मंडल पर एक दर्प छा गया—"मैं क्षत्रिय हूँ। क्षात्र धर्म के अनुरूप ही मेरा आचरण होगा। अन्ततः मुझे राजा बनना है माँ !"

अपना मौन भंग करती हुई मौसी ने कहा, "पर तुझे यहां गुरुकुल कहां मिल गया रे""हैं ?"

बड़ी माँ, गुरुकुल भी मिल गया और गुरुदेव ने मुझे अपना शिष्य भी बना लिया है। साध्य की ओर चरण उठाकर जो साधक सोच-विचार में पड़ जाय, वह सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। अब पुनर्विचार के लिए समय नहीं रहा माँ""अब समय नहीं रहा ....." कहते हुए वत्स ऊपर की ओर निहारने लगा। मानो अपनी मंजिल की उच्चता को भांपने का प्रयास कर रहा हो।

मौसी ने वत्स के कंधे पर हाथ रखते हुए मानो उसे आशीर्वाद दिया और धारिणी से बोली, "बहन, अब रहने भी दे। जो राह हमारे बेटे ने

चुनी है, वह अच्छी ही है। उसे आगे बढ़ने से क्यों रोका जाय ? भाग्य को किसने देखा है ? सम्भव है इसका परिश्रम रंग ले ही आए। फिर हमें कौन सा उज्जयिनी में ही जीवन बिताना है। श्रेष्ठी धनदत्त ने सहारा हटा लिया तो आगे बढ़ जायेंगे। पथिक होकर यात्रा से भय क्या मानना, हां ? ठीक कहती हूँ न ?"

"जैसा तुम ठीक समझो जीजी। यह तुम्हारा हठी लाड़ला भला कभी किसी की सुनता भी है !"—कहकर धारिणी पल भर को मुस्कुरा दी और कनखियों से अपने छबीले बेटे को, हठीले बेटे को निहारती रह गयी। गंभीर, बोझिल वातावरण हल्का-फुल्का हो उठा।

८

गुरुदेव अपने शिष्य वत्सराज की अद्‌भुत प्रतिभा से बहुत प्रभावित थे। शास्त्र और शस्त्र दोनों विद्याओं में वत्स की विचित्र ग्राह्य शक्ति थी। वह मर्म को ऐसे हृदयंगम कर लेता था कि प्रश्नोत्तर के समय वह अधिकारी वक्ता की भाँति विषय का प्रतिपादन कर देता था। गुरुदेव इससे विशेष प्रेरित हुए और वत्स को अति महत्त्वपूर्ण गहन विषयों का भी गुरु गम्भीर ज्ञान देने लगे। व्याकरण, न्याय, राजनीति, समाज नीति, काव्य-शास्त्र, योगादि विद्याओं में वत्स गति प्राप्त करता जा रहा था। शब्दभेदी शर-संधान में भी अब वह निपुण हो चला था। गुरु-कृपा सबसे बड़ी उपलब्धि होती है; शेष उपलब्धियां तो उसकी अनुयायिनी बनी रहती हैं। वत्स का नाम गुरुकुल में ही नहीं अब नगर के प्रमुख घरानों में भी चर्चित होने लगा था।

श्रेष्ठी धनदत्त को गर्वानुभव होने लगा कि वह वत्सराज का आश्रयदाता है। उस प्रातः की घटना उसे प्रायः स्मरण हो आती थी जब वत्स की माता और मौसी उसके पास आयी थीं और कहने लगी थीं कि वत्स अब गायें चराने नहीं जायगा, वह विद्यार्जन करने का निश्चय कर चुका है। धनदत्त ने जब पहली बार वत्स को देखा, तभी समझ गया था कि यह होनहार है। आगे चलकर अवश्य कुछ महत्त्वपूर्ण ही बनेगा यह। इसे आश्रय में रखना यश का आधार ही बनेगा। तब उसने यह भी सोचा कि वत्स के वन में जाने न जाने से क्या अन्तर आता है। मूलतः तो हमें इन दोनों स्त्रियों की सेवा से प्रयोजन है। गायों के लिए कोई और भी चला जाया करेगा। चिन्तन से उबरते हुए धनदत्त ने धारिणी से कहा; "इससे अच्छी बात और हो ही क्या सकती है बहन, वत्स विद्याध्ययन करना चाहता है तो करे, जब तक चाहे करे, किन्तु इस कारण तुम्हें घर छोड़कर जाने की आवश्य-

कता नहीं है। तुम लोग वैसे ही रहोगे जैसे रहते आये हो। गायें चराने को अब वत्स नहीं, कोई और जायगा। मैं तो वत्स के इस विचार से प्रसन्न हूँ। उसकी भरसक सहायता करूँगा। दिखायी नहीं दे रहा है—वत्स""वह कहां है—हैं ?" धारिणी ने आश्वस्त होते हुए कहा, "वह तो गुरुकुल चला गया था। हमें तो भय था कि आप रुष्ट होंगे और हमें किसी अन्य आश्रय की खोज करनी होगी। आपकी सदाशयता""।" "नहीं""नहीं""बहन भूलकर भी यह विचार मन में न लाना कि तुम्हें अन्य आश्रय खोजना है," गम्भीर होते हुए श्रेष्ठी धनदत्त ने कहा—"वत्स जैसा तुम्हारा लाड़ला है, वैसा ही मेरा भी है। अब गुरुकुल में जायगा, तो उसे अच्छे वस्त्र भी चाहिए। संध्या को उसे मेरे पास भेज देना।" श्रेष्ठी को स्मरण आता कि तब कितना आभार मानती हुई, धन्यवाद करती हुई वे दोनों बहनें वहां से विदा हुई थीं। उसे अपनी जागतिक बुद्धि पर अब भी गर्व होता था कि उसने एक ढेले में दो पक्षी मार लिये। एक ओर वत्स के संरक्षक होने का गौरव मिलने लगेगा। दूसरी ओर इन स्त्रियों की निश्शुल्क सेवा परिवार को मिलती ही रहेगी। गुरुकुल में भी वत्सराज के साथ श्रेष्ठी धनदत्त का नाम जुड़ने लगा था और इससे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी ही थी। वत्स को लगता था नियति ने उसे अब सही मार्ग पर अग्रसर कर दिया है।

धारिणी और सोमश्री की दिनचर्या में कोई विशेष अन्तर नहीं आया था। संध्या समय जब वत्स लौटा और भोजन कर रहा था तो मां ने अपनी एक आवश्यकता की बात छेड़ दी। कोमलता के साथ उसने कहा—"बेटे, सुन ईंधन की कांवर खाली होने को आयी है। भोजन पकाने के लिए लकड़ी की आवश्यकता तो रहेगी ही। गायें चराने को न सही, अध्ययन के लिए ही सही, वन में तो तू जाता ही है, प्रतिदिन जाना होता है तुझे। संध्या को लौटते समय सूखी लकड़ियां ले आया करना।"

"अच्छा माँ, ले आया करूँगा।"

"प्रतिदिन की बात नहीं है"—माँ ने जोड़ा—"तीन-चार दिन में भी ले आएगा—तो चल जायगा बेटे !" और वत्स ने सकारात्मक आशय के साथ सिर हिला दिया।

× × ×

अध्यापन कार्य समाप्त कर कभी-कभी वत्स वन में आगे बढ़ जाया करता। सूखी ईंधन बटोरता, आवश्यकता होने पर पेड़ों से सूखी टहनियाँ

भी काटता, काँवर भरकर घर ले आता। उसका अहिंसक मन वृक्ष पर कुठार-प्रहार के समय चिन्तन में लग जाया करता। उसका हाथ थम जाता और मन सक्रिय हो जाता—वृक्ष भी सजीव है, इसे पीड़ा नहीं होती क्या? टहनियाँ इसके अंग हैं। इन्हें काट देना हिंसा नहीं है क्या? प्रबुद्ध मानस स्वयं ही शंका उठाता भी है और स्वयं ही उसका समाधान भी करता है। वत्स भी सोचता—सूखी टहनियाँ तो वैसी हैं जैसे हमारे नख बढ़ जाते हैं, केश बढ़ जाते हैं। ये चाहे देह से जुड़े रहें पर इन्हें काटकर अलग करने में देह को कोई पीड़ा नहीं होती। वैसे ही वृक्ष को कोई कष्ट नहीं होता। जब पेड़ को पीड़ा ही नहीं पहुँची तो इसमें हिंसा की बात नहीं आती। शंका निर्मूल हो जाती। मन शान्त और हाथ सक्रिय हो जाते।

हरे वृक्ष या टहनियाँ वह नहीं काटता था। सूखे वृक्ष की खोज में वह आगे से आगे बढ़ता गया। इस प्रकार वह बहुत दूर निकल गया""बहुत दूर निकल गया। उसे सूखे वृक्ष की खोज जो थी। ऊँचे-ऊँचे वृक्षों के मध्य खड़े वत्स ने सिर को एकदम पीछे झुकाते हुए ऊपर आकाश में दृष्टि डाली। आकाश का एक छोटा सा टुकड़ा ही दिखायी दिया जिसमें संझा की लालिमा भरी थी। धरती पर भी प्रकाश एकदम कोमल, एकदम मन्द होने लगा था। परिणामतः उसके मन में भी एक धचका लगा—अरे! यह तो रात्रि समीप आने लगी। वह कुछ ही पल आगे बढ़ा होगा और उसे एक सुन्दर ताल दिखायी दिया। मन्द पवन लहरियों से अठखेलियाँ करता, उनकी शीतलता चुरा कर आया और श्रम-शिथिल वत्स को एक अपूर्व आनन्द दे गया। उसकी जी की कली और भी तब खिल गई, जब उसे इस शीतल-मन्द पवन में सुगन्ध का अनुभव भी हुआ। उसने जी भर कर गहरा सांस लिया। "अरे, यह तो चन्दन की सुवास है—अवश्य ही यहाँ कोई चन्दन-वन है, समीप ही है।"—वह सोचने लगा। जलाशय के तट पर एक प्राचीन यक्ष-मन्दिर था। मन ही मन वन्दन कर वह चन्दन-वन की खोज में उस पगडण्डी पर होकर तीव्रता के साथ आगे बढ़ गया जो इस मन्दिर के पीछे से होकर जाती थी।

ताल के उस पार पहुँचने से पूर्व ही वत्स को वृक्षों में चन्दन की गंध आने लगी। वह थमा, निरीक्षण-परीक्षण से उसे तत्काल ज्ञात हो गया कि ये चन्दन वृक्ष नहीं है। उसके वनस्पति-ज्ञान ने उसे स्मरण करा दिया कि चन्दन-तरु की संगति से अन्य वृक्ष भी महक उठते हैं। उनमें भी चन्दन की

सुवास आने लगती है। इस विश्वास ने उसे और भी उमंगित कर दिया कि अब चन्दन वृक्ष अधिक दूरी पर नहीं हैं। उसने लम्बे-लम्बे डग भरना आरम्भ कर दिया। भीतर का विश्वास तन-मन को स्फूर्ति से भर देता है। उसने शीघ्र ही पाया कि वह अब चन्दन-वन के मध्य खड़ा है।

यह संध्या उसके लिए सफलता का सन्देश लेकर आयी थी। उसने सोचा था कि चन्दन का काष्ठ मूल्यवान होता है। इसके विक्रय से जो धन प्राप्त होगा उससे कुछ ईंधन तो ले ही लेंगे—इसके अतिरिक्त धनुष बाण, खड्ग, गदा, भल्ल आदि शस्त्रास्त्र भी ले लेंगे। इन आयुधों की उसे तीव्र आवश्यकता थी। उसने तब कोई भी भय न माना, जब उन वृक्षों पर नाग लिपटे हुए दिखायी दिये। इनसे कैसा डर? इन्होंने तो वास्तविक चन्दन तरुओं से उसकी पहचान करायी थी? उसने दो तरुओं पर लिपटे श्याम-वर्णी नागों की वन्दना की····करबद्ध····नेत्र निमीलित। जब उसने आँखें खोलीं तो पाया दोनों नाग तने पर अपनी जकड़न ढीली कर धीरे-धीरे नीचे उतर आये। धरती पर तीव्र गति से रेंगते हुए वे झाड़ियों में अदृश्य हो गये। शुभ कार्यों में सभी दिशाओं से सहयोग मिलता है। वत्सराज प्रसन्न हुआ। उसने उस झाड़ी की ओर मुड़कर एक बार पुनः नमन किया और जुड़े हुए हाथ भाल तक पहुँचाकर नागराज का आभार माना।

काँवर से कुठार निकालकर वह एक वृक्ष की ओर बढ़ा। उसके तने पर पहला प्रहार किया और कुछ अघटनीय ही घटित हो गया। कुठार तने में धँस तो गया था, किन्तु अब दूसरे प्रहार के लिए वृक्ष से छूट कर अलग नहीं होता था। उसने पूर्ण शक्ति के साथ प्रयास किया, किन्तु उसे विफलता ही हाथ लगी। कुठार तो दृढ़ता के साथ तने से चिपक गया था। वत्सराज ने मन को केन्द्रित कर समस्या के कारण का चिन्तन किया। उसे इस निष्कर्ष पर पहुँचने में विलम्ब नहीं हुआ कि यह चन्दन-वन यक्षदेव के अधिकार क्षेत्र में है, वे इसके रक्षक हैं। चन्दन-प्राप्ति के लिए उनकी पूर्वानुमति अपेक्षित है। यही भूल रह गयी।

अभी भी सांझ ढली नहीं थी। वह निराश नहीं हुआ, दौड़कर वह मन्दिर में पहुँचा। यक्षदेव को दण्डवत् प्रणाम कर लम्बे-लम्बे हाथ जोड़े रहा। उठा, तो आँखें मूँदे प्रार्थना करने लगा—प्रभु, मेरी प्रार्थना सुनो, स्वीकारो मेरी प्रार्थना प्रभो! मेरे मन में लोभ-लालच तो है नहीं····। चन्दन का व्यवसाय तो मुझे करना नहीं। तुम तो अन्तर्यामी हो भगवन्। मेरी

कामना कोई तुमसे छिपी तो है नहीं। हाँ, यह तो भूल हो ही गयी, भूल क्या मूर्खता थी मेरी कि प्रभो, आपके चरणों में नहीं पहुँचा, सोधे वृक्षों के पास पहुँच गया। भगवन्! अपने मूर्ख दास को क्षमा प्रदान करो। तुम तो दया-सिंधु हो। एक कृपा-बूंद प्रदान कर दो प्रभो, एक वृक्ष ही खूब है मेरे लिए प्रभो! इससे मेरी सफलता का द्वार खुल जायगा भगवन्....! कृपा करो प्रभो!" भावाभिभूत वत्स के अर्द्धनिमीलित नयनों से अश्रु छलछला आये। प्रतिमा के मुखदर्शन में तल्लीन वत्स को यक्ष देवता के अधरों पर एक मुस्कान दिखायी दी। इस कृपा-प्राप्ति से कृतज्ञ वत्स ने यक्षदेव का आभार मानते हुए जय-जयकार किया और लौट पड़ा।

अभी भी उसने पाया कि सांझ ढलने में पर्याप्त समय शेष था। कुठार मुक्त हो गया था। उसने त्वरा के साथ कार्य सम्पन्न कर लिया। काँवर कांधे पर चढ़ाकर जब वह आगे बढ़ा तो अंधेरा होने लगा। उसके मन में आया कि यक्षदेव की कृपा के उत्तर में कृतज्ञता-सूचक उपस्थिति देनी ही चाहिए। वह मन्दिर में पहुँचा और आँख मूँदकर वन्दना करने लगा। वन में वह बहुत दूर चला आया था। गुरुकुल ही यहां से दूरी पर था, नगर तो और भी दूरस्थ था। रात्रि उतरने लगी थी। पूर्णमासी की उजाली रात्रि थी, फिर भी वातावरण तो वन्य ही था। वत्स ने निश्चय कर लिया था कि आज की रात्रि मन्दिर में ही व्यतीत कर ली जाय। उसने काँवर एक ओर सुरक्षित रख ली और स्वयं मन्दिर के भीतर चला गया। पट उढ़का लेने पर उसे पूर्ण सुरक्षा अनुभव होने लगी थी।

× × ×

कमनीय प्रकृति ने अपना अद्भुत मायावृत्त फैला रखा था। मेघहीन स्वच्छ आकाश में पूर्ण चन्द्र असंख्य नक्षत्रों के बीच शोभा दे रहा था। धरती की सघन हरीतिमा पर उज्ज्वल रजत आवरण छा गया था। सर्वत्र इस दूधियाँ चाँदनी का प्रसार दृष्टिगत होता था। सरोवर के शान्त जल में चन्द्रमा अपनी छवि निहार कर मानो आत्ममुग्ध हो गया था। चन्दन-गंध रह-रहकर मंद झौंकों के साथ आती और मादकता फैला जाती। सुन्दरता, सरसता, कोमलता, रमणीयता—यही सब कुछ दिखायी देता था।

यक्ष-मन्दिर के बन्द-बन्द वातावरण की घुटन छोड़कर इस सुरम्य स्थल पर वत्सराज पहले तो बड़े संकोच के साथ आया था, किन्तु अब उसे

अपने निश्चय पर प्रसन्नता हो रही थी। वह जी भरकर इस सुख को ग्रहण कर लेना चाहता था। सहसा उसे सुन्दर संगीत के स्वर सुनायी दिये। दूर से आते ये स्वर किसी महिला समूह के प्रतीत होते थे। क्रमशः ये स्वर समीपतर होते जा रहे थे और स्पष्ट भी। बीच-बीच में गायिकाओं का मुक्त हास्य भी सुनायी दे जाता था। वत्स कुछ समझ न पा रहा था कि कौन गा रही हैं! अर्द्ध रात्रि में इस घोर वन में कौन हो सकती हैं। इसी समय उसे आकाश मार्ग से उतरती हुई किन्नरियाँ दिखायी दीं। ये परस्पर अठखेलियाँ करतीं सरोवर के तट पर उतरीं। वत्सराज स्वयं को उनकी दृष्टि से बचाने के प्रयत्न में झाड़ियों के एक झुरमुट के पीछे चला गया।

किन्नरियाँ अतीव सुन्दर थीं। रत्नाभरणों से उनके अंग-अंग जगमगा रहे थे। रत्नजटित वस्त्र धवल चाँदनी में झिलमिला रहे थे। किन्नरियाँ समीप के एक लताकुञ्ज में गयीं और जल क्रीड़ा हेतु वस्त्र बदल कर सरोवर के जल में उतर गयीं। वत्स के मन में उन अद्भुत वस्त्रों के प्रति एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई। लुकता-छिपता वह कुञ्ज की ओर बढ़ा। कुछ दूरी से ही उसे कुञ्ज के अंधेरे में भी रत्नों की झिल-मिल दिखायी देने लगी थी। उसका भीतरी आकर्षण और तीव्र हो गया। उसने कुञ्ज में जाकर एक रत्न कंचुक उठा लिया और उसे अपने वस्त्रों में भलीभांति छिपाकर बाहर निकल आया। दबे पाँव वह यक्ष मन्दिर में पहुँच गया और द्वार भीतर से बन्द कर लिया।

स्नानोपरान्त एक रत्न कंचुक न पाकर किन्नरियों में कुहराम मच गया। वे सभी चिन्तित थीं। दूर-दूर तक खोज की। मन्दिर का द्वार बन्द पाकर उन्हें सन्देह हुआ। उनके आते समय द्वार खुला था, अब बन्द क्यों है? बाहर काष्ठ-भरी काँवर भी पड़ी थी। उन्हें विश्वास हो गया कि कोई हमारा कंचुक चुरा कर यहां छिपा बैठा है। किन्नरियों ने द्वार खटखटाया, खूब शोर किया—कौन है भीतर! दरवाजा खोलो!! आदि आदि। भीतर वत्स ने धैर्य नहीं छोड़ा। मूक बना निष्क्रिय बैठा रहा। वह सांस भी बड़ी सावधानी से ले रहा था। अन्ततः परास्त होकर किन्नरियाँ लौट गयीं। धीरे-धीरे बाहर का वातावरण पुनः शान्त हो गया, किन्तु विवेकशील वत्सराज सूर्योदय तक इसी प्रकार सावधान रहना चाहता था। वह भीतर ही चुप-चाप बैठा रहा।

एकाध प्रहर बीता होगा कि मन्दिर के परिसर में फिर से कुछ सक्रि-

यता अनुभव होने लगी। वत्स सचेत हो गया। उसे लगा कि कुछ दूरी का जो मंद स्वर था, सहसा वह भी लुप्त हो गया है, मानो सभी सहसा मौन हो गये हों। कुछ ही क्षणों में किसी ने बाहर से कुण्डी खटखटायी। वत्स भीतर द्वार से सटकर खड़ा हो गया। उसे लगा कि बाहर माँ और बड़ी माँ खड़ी हैं। कपाटों की दरारों से आँख सटाकर उसने ध्यानपूर्वक देखा। पाया कि हां उन दोनों जैसी ही हैं। बड़ी माँ ने आवाज लगायी, माँ ने भी पुकारा—बेटा वत्स····वत्सराज !!

—बोलते क्यों नहीं बेटे ? क्या बात है ? लौटकर घर क्यों नहीं आये ?

—रात को यहां यक्ष मन्दिर में रुकने का क्या काम ?

—चलो बेटे घर चलो····हम तुम्हें लेने को आयी हैं।

—हाँ बेटा····हाँ····चलो। हम तुम्हें लेकर ही जाएंगी।

बाहर से एक के बाद एक को आवाज आती रही, किन्तु वत्सराज मौन रहा। उसे पक्का सन्देह था कि यह कोई माया है। माँ-मौसी ये नहीं हैं।

बड़ी माँ की आवाज फिर बाहर से आयी—"वत्स ! हम तो रात भर तुम्हारी चिन्ता में दुखी होती रही हैं। तुम्हारा कोई पता-ठिकाना ही नहीं था। आधी रात तक भी जब तुम नहीं लौटे तो हमारा घर में रहना कठिन हो गया। तुम्हें खोजने को बाहर निकलीं। भला हो उन किन्नरियों का····।"

—हां बेटे, बेचारी बड़ी भली थीं। आकाश मार्ग से उड़कर जा रही थीं। हमें उज्जयिनी के मार्गों में भटकते देखकर उन्हें दया आ गयी। उन्होंने ही तेरा पता बता दिया और हम····" माँ के शब्द थे ये।

विवेकशील वत्सराज को सारा प्रसंग समझ में आ गया। माँ····बड़ी माँ अवश्य खोजने निकली होंगी। उनकी आपसी चर्चा को किन्नरियों ने सुन होगा। सम्भव है कांवर का प्रसंग भी आया हो। उन्हें पक्का विश्वास हो गया होगा कि मैं इन्हीं का बेटा हूँ····यहां मन्दिर में छिपा हूँ, रत्नकंचुक मेरे पास है, अतः द्वार नहीं खोल रहा हूँ। यही सब कुछ सोचकर किन्नरियां लौट आयी हैं और उन्होंने ही माँ व बड़ी माँ का वेश बनाया है, ऐसा सोच कर कि उन्हें आयी देखकर मैं द्वार खोल दूंगा। इस रहस्य की समझ ने उ

और भी पक्का बना दिया। बहुत दृढ़ता के साथ उसने मौन साधे रखा। माँ-मौसी की ओर से बाहर से अनेक प्रकार की उकसाहटें भी होती रहीं, किन्तु वह टस-से-मस नहीं हुआ। रात ढलने को हुई, चन्द्रमा फीका-फीका होने लगा, पूर्व में उजाला झांकने लगा। विवश होकर दोनों द्वार से लौटने लगीं। जाते-जाते उनका वेश भी पुनः किन्नरियों का हो गया—कपाट की दरार से वत्स ने स्पष्ट देखा। वह समस्त माया जाल से रक्षित हो गया था। रत्नकंचुक अब भी उसके पास था।

भोर हो जाने पर वत्स बाहर निकला। काँवर कांधों पर लादी और चल पड़ा। आज उसके चरणों में अद्भुत वेग था। वह बढ़ता ही चला गया। मार्ग में आश्रम के समीप रुककर उसने बरगद की खोह में रत्नकंचुक को भली प्रकार छिपाकर रख दिया और कांवर उठाकर वह फिर चल पड़ा। घर पहुँचकर उसने माँ-मौसी को चिन्तित अवश्य पाया, किन्तु उन्हें तनिक भी आभास नहीं था कि वत्स रात कहां रह गया। उसे देखकर वे तो प्यार से पागल हो उठीं। कहने लगीं बड़ी परेशानी में रात्रि व्यतीत की। नगर के द्वार भी बन्द थे। तुझे खोजने को जातीं तो किधर जातीं। नगर के भीतर ही खोजकर लौट आयीं। इस तरह हमारे धैर्य की परीक्षा तो न लिया कर। वत्सराज ने भी वास्तविकता प्रकट करना उपयुक्त नहीं समझ एक कहानी सुना दी। धारिणी और सोमश्री आश्वस्त हो गयीं। चन्दन-काष्ठ पाकर वे प्रसन्न हो उठीं। कांवर लदी हुई थी, पूरी तरह।

चन्दन ऊँचे मोल में बिका। वत्स को अच्छा-खासा द्रव्य हाथ लगा। सबसे पहले उसने कुछ दिनों योग्य ईंधन मोल ले लिया। माँ, मौसी और अपने लिए वस्त्र लिए। धनुष-बाण, तरकस, खड्ग, भल्ल आदि शस्त्रास्त्र भी क्रय कर लिये। वत्स कुछ सन्तुष्ट था, प्रसन्न था। आयुध ही तो क्षत्रियोचित साधन हैं।

९

उज्जयिनी नगर के बाहर स्थित विस्तृत क्रीड़ांगन आज भाँति-भाँति के अलंकरणों से सज्जित था। मुख्य द्वार कदली स्तंभों और पुष्प-पल्लवों से सजाया गया। स्थान-स्थान पर बहुरंगी पताकाएं फहरा रही थीं। सारा प्रांगण बन्दनवारों से सजा हुआ था। मध्य में प्रदर्शन स्थल था और सामने एक उच्च स्थल पर राजसी पांडाल तना हुआ था। यहीं सुसज्जित पीठिका पर नरेश जितशत्रु, महारानी कमलश्री और राजकन्या श्रीदेवी आसीन थीं। इससे नीचे के अर्द्धवृत्ताकार स्थल में राज्याधिकारी, सामन्त, संभ्रान्तजन बैठे थे। प्रदर्शन स्थल के समीप एक दीर्घा आयुध प्रतियोगियों की थी, यहीं एक उच्चासन पर गुरुदेव भी विराजित थे।

आयुध प्रतियोगिता का प्रदर्शन अपने पूर्ण यौवन पर था। प्रदर्शन स्थल को घेरे बैठे दर्शकगण भी अति उत्साहित थे। वे अपने भावी रक्षकों के कौशल, शौर्य, पराक्रम और दक्षता से आश्वस्त थे। आयुध प्रयोग के चमत्कारों को देख-देखकर उपस्थितजन सभी बड़े प्रसन्न थे। तुमुल करतल ध्वनि से क्रीड़ांगन बार-बार गूंज उठता था। सभी के मुख उत्साह एवं उमंग की आभा से परिपूरित थे।

गुरुदेव अपने स्थान पर खड़े हुए। हाथ उठाकर उच्च स्वर में उन्होंने घोषणा की—

"और अब बारी है उस युवक की जो गुरुकुल का नवीनतम विद्यार्थी है, और जो सर्वाधिक प्रतिभाशाली है। गुरुकुल को अपने इस कुशल वत्स पर अपार-अपार गर्व है—यह गुरुकुल का गौरव है—वत्सराज।"

गुरुदेव के मुख पर अंकित उल्लास कुछ क्षणों तक तीव्रतर होता रहा और आसन ग्रहण कर लेने के पश्चात भी कुछ पलों तक वे उत्फुल्ल बने

रहे। वत्सराज उठा, गुरुदेव की चरण-वन्दना कर, सफलता की आशीष प्राप्त की और शरासन सभाला। प्रदर्शन-स्थल के मध्य में खड़ा वत्सराज सिंह के समान पराक्रमशील दिखायी दे रहा था। उसने प्रत्यंचा खींचकर एक बार परीक्षा की। टंकार से सारा मण्डप गूँज उठा। धनुष पर बाण चढ़ाकर उसने प्रत्यंचा खींची, नेत्र निमीलित कर उसने आकाश की ओर लक्ष्य साधने की मुद्रा में वन्दना की, उसके अधरों पर अस्फुट शब्दों का कम्पन था। कुछ ही क्षणों में उसके नेत्र खुले। लक्ष्य बदलकर उसने बाण छोड़ा। सनसनाता हुआ उसका बाण राजा-रानी के चरणों में जा पहुँचा। तुमुल हर्षध्वनि और करतल ध्वनि से दर्शकों ने इस कौशल का स्वागत किया। वत्सराज ने हाथ जोड़कर, शीष झुकाकर राजदम्पत्ति को नमन किया। राजा-रानी ने हाथ उठाकर अभिवादन स्वीकारा। वत्स ने सभी दिशाओं में उन्मुख होकर समस्त प्रजाजन को नमस्कार किया, उनकी शुभकामनाएं ग्रहण कीं।

जनाशीष शक्ति-वर्धक होती है। वत्सराज में भी नवीन स्फूर्ति और बल का संचार हुआ। उसका आत्मविश्वास कई गुना बढ़ गया। आकाश में उछाली गयी गेंद को उसने अपने प्रथम संधान में ही लक्ष्य बनाया। गेंद बाण में पिरो गयी। इस अद्भुत करतब को देख प्रजा धन्य-धन्य कह उठी। वत्स को एक दर्पण के समक्ष खड़ा कर दिया गया। उसकी पीठ की ओर रस्सी से बंधी एक गुड़िया झूल रही थी। दर्पण में झूलती गुड़िया की छवि देखकर शर-संधान करना था। मनोयोगपूर्वक किया गया प्रयत्न कठिन से कठिन कार्यों में भी सफलता प्रदान कर देता है। वत्सराज को इस परीक्षा में भी सफलता मिली। स्तंभ से लटकी रस्सी सूनी हो गयी। कुछ ही क्षणों में स्वयंसेवक ने नरेश के सम्मुख बाण प्रस्तुत कर दिया जिसकी नोंक में गुड़िया अटकी हुई थी। प्रजाजन के साथ राजदम्पत्ति भी प्रसन्न और गर्वित, सर्वत्र एक प्रफुल्लता का वातावरण, तीव्र करतल ध्वनि की दीर्घ गूँज होती रही। उत्तरोत्तर कठिनतर परीक्षाएं हो रही थीं। अब की बार प्रदर्शन स्थल के मध्य खड़े वत्स के नेत्रों पर, कसकर काली पट्टी बाँध दी गयी। धनुष-बाण उसके हाथों में और नगाड़ों की ध्वनि उसके कानों में गूँज रही थी। अश्वारूढ़ सैनिक के हाथ में कपड़े का एक तोता था। अश्व इस प्रदर्शन-स्थल के चक्कर लगाता जा रहा था। अश्वारूढ़ सैनिक हो हो····हो····की ध्वनि करता जा रहा था। इस ध्वनि का अनुसरण करते हुए वत्स अपने स्थान पर खड़ा-खड़ा गोल-गोल घूमता जा रहा था कि निरन्तर तोते को

लक्ष्य बनाये रख सके। इसी क्रम में सहसा नगाड़े का स्वर स्तब्ध हो गया"" वत्स की कमान से बाण छूटा और तोता निशाना बन गया। शब्द बेधी शर-संधान की इस अद्भुत परख में भी उसे भव्य सफलता मिली। फिर चहुँ ओर वाह""वाह !! हो उठी। नृपति जितशत्रु को आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता का अनुभव हुआ और अनायास ही महाराज ने हाथ उठाकर वत्स का साधुवाद किया।

निर्णायक पीठ के लिए सुगमता होती जा रही थी। वत्स जैसे कौशल और दक्षता का प्रदर्शन कोई प्रतियोगी नहीं कर पाया था। अब असि-संचालन की बारी थी। वत्सराज अश्वारूढ़ हुआ। उसके हाथ में चमचमाती हुई तलवार थी। एक बार तो उसने अश्व पर ही पूरा चक्कर प्रदर्शन स्थल का लगाया। एक हाथ में वल्गा, दूसरे में घूमती हुई तलवार थी। सहसा नगारे पर डंका लगा। इस शब्द के साथ ही अग्र पंक्ति के दर्शकों के हाथों में रंग-बिरंगे रूमाल लहरा उठे। वत्सराज एक सिरे से इन रूमालों को तलवार से काटता हुआ आगे बढ़ गया। हिलते रूमाल कट-कटकर भूमि पर गिरते रहे और आकाश में वत्स का जय-जयकार उठता रहा। अनेक दशकों से शस्त्र-संचालन का ऐसा अद्भुत महोत्सव उज्जयिनी में नहीं हुआ। सभी उत्सुक थे इस नवयुवक का परिचय पाने को, वह सभी की प्रशंसा का विषय बन गया था।

अब भल्ल-प्रदर्शन था। अब की बार भी वत्स अश्वारूढ़ था। उसके हाथों में अब भाला था। एक सीधी पंक्ति में पाँच बड़े-बड़े काशीफल रख दिये गये थे। उन्हें लोहे के तवों से ढक दिया गया। अश्वारूढ़ वत्स ने प्रथम तो सारे प्रदर्शन स्थल के अनेक चक्कर लगाये। प्रत्येक चक्कर के साथ अश्व गति तीव्र होती जाती थी। अत्यन्त तीव्र गति हो जाने पर उसने काशीफलों की पंक्ति के सहारे-सहारे दौड़ लगायी। अंतिम काशीफल से भी तनिक आगे निकलकर वत्स ने तेजी से अश्व को पलटाया और निशाना साधकर पहले तवे और बाद में काशीफल को भेदकर भाले में पिरो लिया। इस क्रम में उसने पाँचों लक्ष्यों को बेंध दिया। हर लक्ष्य पर दर्शकों की साँस थम जाती थी और लक्ष्य के सध जाने पर एक सुख की साँस आती थी। अंतिम लक्ष्य के आते-आते सभी का मुँह खुला का खुला रह गया और जब काशीफल भाले की नोंक में धँस गया तो "ओ-हो अ" ध्वनि के साथ ही उनके अधर आपस में मिल पाये। चरम पर पहुँचे इस आयुध-प्रदर्शन को विराम मिला। स्वयं गुरुदेव ने अश्व के समीप पहुँचकर वत्स की पीठ थप-

थपाई। भल्ल की मूँठ को भूमि पर टिकाकर वत्स अश्व से उतर पड़ा। झुककर गुरुदेव का चरण स्पर्श किया और उसके नेत्र आनन्दाश्रुओं से छल-छला आये। गुरुदेव ने भी अपने प्रिय शिष्य को गले से लगा लिया। तभी निर्णायक पीठ के अधीश वहाँ पहुँच गये। उन्होंने वत्स का हाथ थामकर ऊपर उठाया और उसकी विजय की घोषणा की। मनचाहे परिणाम को पाकर दर्शक भी गद्‌गद् हो उठे थे। आकाश वत्सराज की जय-जयकार से गूंज उठा। कृतज्ञ वत्सराज ने चारों ओर घूमकर समस्त उपस्थित जन के प्रति आभार प्रकट किया। तभी राजदम्पति का पदार्पण प्रदर्शन स्थल के मध्य हुआ। राज पुरोहित के मंत्रोच्चार के मध्य महारानी ने वत्स को तिलक किया। महाराज ने उसे उत्तरीय धारण कराकर श्रीफल भेंट किया, अपने गले से मोतियों की बहुमूल्य माला उतारकर उन्होंने वत्स को पहनाई और उसके दोनों कंधे थामकर उसका साधुवाद किया। "उज्जयिनी और हमको तुमसे अनेक आशाएं हैं"– कहते हुए महाराज जितशत्रु ने मंत्री को संकेत किया। तुरही का तीक्ष्ण स्वर गूंज उठा। वत्स के हाथों ध्वजावरोहण कराया गया""समारोह विसर्जित हुआ।

प्रसन्न नृपति जितशत्रु ने वत्स को राजभवन में आकर भेंट करने को कहा। स्त्रियाँ न तो ज्ञात तथ्यों को स्वयं तक सीमित रख पाती हैं और न ही ज्ञातव्यों के प्रति अपनी जिज्ञासा को दबा पाती हैं। महारानी कमलश्री के मन में भी एक ऐसी हलचल थी। उन्होंने स्नेहपूर्वक वार्तालाप आरंभ करते हुए वत्स का परिचय पूछा।

—जी, महादेवी जी, मैं एक क्षत्रिय कुमार हूँ।

—यह तो तुम्हारी पराक्रमशीलता से ही ज्ञात हो रहा था कि तुम क्षत्रिय ही हो, किन्तु तनिक अपने कुल-शील के विषय में भी बताओ कहाँ के रहने वाले हो तुम ?

—जी मैं क्षितिप्रतिष्ठितपुर के राजवंश से संबंध रखता हूँ। मैं स्व. महाराजा वीरसेन का कनिष्ठ पुत्र वत्सराज हूँ।

—वत्स ! तो तुम हो वत्सराज !! तुम्हारे विषय में सुना तो बहुत-कुछ था आज प्रत्यक्षतः जान भी लिया कि जो कुछ सुना था, तुम उससे कहीं अधिक हो। मगर तुम उज्जयिनी कब आये ? राजभवन में क्यों नहीं आये ?

वत्स इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ कहने ही वाला था कि उत्सुक महारानी ने अन्य प्रश्न कर लिये—जीजी धारिणी कैसी हैं ? आजकल बड़ी जीजी भी तो उनके ही साथ हैं, वे कैसी हैं ?" और उत्तर पाने को उनका जिज्ञासु मन मानो उनके नेत्रों में आ बसा। वे अपलक वत्स का मुख निहारती रह गयीं।

अत्यन्त संयत स्वर में वत्स ने उत्तर में कहा—"महारानी जी, वे दोनों—मेरी माँ और बड़ी माँ भी यहीं हैं—मेरे साथ हैं।"

महारानी कमलश्री को बड़ा अद्भुत सा लगा—यहाँ !! यहाँ कहाँ हैं वत्स····कहाँ हैं वे ?

"महारानी जी, वे····"

"नहीं हूँ मैं महारानी, तुम्हारे लिए।" वत्स की बात बीच में ही काट कर कमलश्री ने कहा—"मैं तुम्हारी मौसी हूँ····मौसी ! हाँ अब बताओ—वे यहाँ कैसे हैं····कहाँ हैं ?"

"यहीं ···अर्थात् उज्जयिनी में हैं, मौसी ! हम लोग श्रेष्ठी धनदत्त की सेवा करते हैं, उन्हीं के आश्रय में हैं। मैं उनकी गायें चराया करता था, माँ और बड़ी माँ····"

"बस ··· करो बस ···मुझे और कुछ नहीं सुनना।" अब तक चलते-चलते ये मुख्य द्वार पर आ गये थे। महारानी कमलश्री ने रथ की ओर संकेत करते हुए कहा—"बैठो····" और स्वयं भी रथारूढ़ हो गयीं। रथ तीव्र गति से श्रेष्ठी धनदत्त के भवन की ओर दौड़ चला। राजा का रथ राजभवन पहुँचा तब तक धारिणी, सोमश्री और कमलश्री—तीनों बहनें गले मिलकर खूब रो चुकी थीं। इस स्नेहाधिक्य के मूक दर्शक थे—वत्सराज और श्रीदेवी।

× × ×

राजभवन के परिसर में ही एक प्रासाद कमलश्री ने अपनी जीजियों के लिए व्यवस्थित करा लिया था। इस प्रासाद में समस्त राजसी वैभव, समस्त सुख-सुविधाएं थीं। दास-दासियाँ, मान-सम्मान, सभी-कुछ मानो पुनः लौट आया था और यह परिणाम था वत्स के प्रारम्भिक पराक्रम का। प्रारब्ध के परिवर्तन का यह प्रथम सोपान था।

उज्जयिनी नरेश जितशत्रु के मन में भी इन लोगों के प्रति सम्मान

और स्नेह का भाव था। पुत्रहीन नरेश को वत्स के रूप में मानो पुत्र-प्राप्ति ही हो गयी थी। उन्हें वत्स के प्रति असीम ममत्व हो गया था। उसके अद्-भुत पराक्रम ने तो मानो नरेश के मन पर जादू ही कर दिया था। वे उसमें उज्जयिनी के भावी नरेश की कल्पना करने लगे थे। उनकी यह कल्पना कभी व्यक्त नहीं हो पायी।

इधर वत्स को भी राजा का स्नेह प्रियकर लगने लगा था। उसे ऐसा प्रतीत होता था मानो उसके छिने हुए पितृश्री ही पुनः प्राप्त हो गये हों। यही क्यों उसे तो अपनी सारी खोयी हुई स्थिति फिर से मिल गयी थी, किन्तु एक बात उसके मन में खटकती थी। वह बिना श्रम के यहाँ की इन समस्त सुविधाओं का उपभोग करना अनुपयुक्त मानता था। राज्याश्रय के प्रत्युत्तर में वह राजसेवा का अभिलाषी था। सेवा करके ही वह कुछ ग्रहण कर सकता था, अन्यथा नहीं। राजा जितशत्रु ने वत्सराज के मंतव्य को समझा और उसकी बात को रखना आवश्यक माना। वत्सराज उज्जयिनी-नरेश का प्रधान अंगरक्षक हो गया। वह दत्तचित्तता के साथ अपना कर्त्तव्य पूर्ण करता रहा। दिन यों ही व्यतीत होते चले गये।

१०

वत्सराज उज्जयिनी नरेश के शयन-कक्ष के बाहर के बन्द दालान में सतर्क, सावधान मुद्रा में बैठा था। यह प्रहरी-कक्ष था और इस कक्ष में वह पहले कभी कर्त्तव्य पर नहीं रहा। यहाँ सामान्य प्रहरी जन ही नियुक्त रहते थे। रात्रि वत्स के लिए विश्राम का समय लेकर आती थी। यह रात्रि अन्य सामान्य रात्रियों से भिन्न थी। आज प्रहरियों को वत्स ने इस प्रहरी-कक्ष से बाहर नियुक्त कर दिया था। वह स्वयं धनुष हाथ में थामे बैठा था। उसकी कमर में तलवार लगी हुई थी और सामने दीवार के सहारे भाल्ला टिका हुआ था। समय मध्यरात्रि से कुछ अधिक हो गया था। कर्त्तव्यशील वत्स के नेत्रों में नींद रंच मात्र भी नहीं थी। चेष्टापूर्वक वह जाग रहा था। अमावस्या की इस रात्रि ने सर्वत्र कालिमा बिखरा दी थी। सारा नगर घोर निद्रा में निमग्न था, वत्स मानो इस सुखद निद्रा का मूक, सजग साक्षी बना बैठा था।

सर्वत्र शान्ति थी। नृपति की निद्रा में व्यवधान उपस्थित न हो पाए—इस हेतु से सतर्क शान्ति व्याप्त थी, तथापि दूरस्थ वन प्रान्तरों, शिप्रा-तट-क्षेत्र से श्वान-शृगालों की मंद-मंद ध्वनि कभी-कभी आ ही जाती थी। वत्सराज एकाकी, विचार-मग्न बैठा था। जब कोई वार्तालाप करने हेतु समीप नहीं होता तो मनुष्य मौन-वाचाल हो जाता है। उसका मन सक्रिय हो जाता है। आप ही कहता है और आप ही सुनता है। घोर अंधकार गवाक्ष के बाहर कुछ भी देखने नहीं देता था। तब उसके मन के नेत्र अपने अतीत के चलचित्र देखने लग जाते थे। वह अतीत वत्स को भविष्य-निर्माण के पक्ष में अधिक से अधिक प्रेरित करता था। सहसा उसकी मुट्ठियाँ कस जातीं, दाँत भिड़ जाते, आँखों का खुलाव और अधिक बढ़ जाता और उसका मन उसे परामर्श देने लगता—"वत्स! तुझे अपने पिताश्री की अभिलाषा पूर्ण

करनी है, शासक तुझे ही बनना है।" उसे लगने लगा कि उस विशाल उपक्रम का शुभारंभ हो गया है, जिसकी अन्तिम परिणति उसके राजत्व में ढलेगी। नृपति जितशत्रु का स्नेह उसी का प्रतीक है। इस समय उसे इस राजघराने में प्रवेश का संयोग भी स्मरण हो आया। उसे स्मरण हो आया कि मौसी कमलश्री कितने स्नेह, कितने आदर से अपनी अग्रजाओं से मिली थीं। उस समय मौसी ने कितने अपनत्व के साथ अपने मन की पीड़ा व्यक्त की कि उनकी बहनों ने उनको पराया समझा और उज्जयिनी में रहते हुए भी उनके पास वे नहीं रहीं, साधारण सा बसेरा और दासता का जीवन स्वीकार किया। उसे अपनी माँ-बड़ी माँ के तर्क भी स्मरण हो आये कि ये बहनें अपनी इस हीन दिशा में उज्जयिनी के राजपरिवार में आतीं तो उनके मान को भी ठेस पहुँचती और कमलश्री के गौरव-गरिमा को भी। उसे यह भी याद है कि उज्जयिनी में प्रवेश के समय उसकी माँ ने इस नगर में प्रवेश करने या यहाँ रुकने से हठपूर्वक मना किया, अब उसे इसका कारण भी समझ में आ गया था। उसके उज्जयिनी में रुकने के परिणाम भी अब उसे संतोषप्रद प्रतीत होने लगे—उसे उसके लक्ष्य की ओर अग्रसर करने वाला क्रम जैसे आरंभ हो गया था। इस अंधेरी अर्द्धरात्रि ने उसे कुछ चिन्तनशील बना दिया और कुछ क्षणों के लिए ही सही, किन्तु वह बाहरी वातावरण से कट गया।

वह अपने विचारों के प्रवाह में बहता चला जा रहा था कि सहसा शयन-कक्ष से घंटे की ध्वनि ने आकर उसे चौंका दिया। वह मानो निद्रा से जाग उठा और नृपति की सेवा में जा उपस्थित हुआ—'आज्ञा देव!' कहकर वह शीष झुकाकर खड़ा हो गया। महाराज ने इस समय वत्स को देखा तो एकबारगी ही वे विस्मय में निमग्न हो गये। सहसा पूछ बैठे—"वत्स! तुम अभी विश्राम करने नहीं गये। तुम्हें रात्रि में रुकने की आवश्यकता क्या है? तुम तो कभी रात को रुकते नहीं।"

वत्सराज ने उत्तर में निवेदन किया—"श्रीमन्, नित्य की भांति आज संध्या को आपने मुझे घर जाने का आदेश नहीं दिया। बिना आज्ञा के मैं भला कैसे चला जाता!!"

महाराजा के मुख पर खेद की रेखाएँ खिंच आयीं। उन्होंने पश्चात्ताप के स्वर में अपनी भूल स्वीकार की और भविष्य के लिए व्यवस्था दी कि "अब मेरे आदेश की आवश्यकता नहीं रहेगी। तुम संध्या समय स्वतः

चले जाया करो। आदेश तो तभी आवश्यक रहेगा, जब तुम्हें रात्रि में रुकना होगा। पर हाँ आज प्रहरी कहां है ? वह क्यों नहीं आया ?"

"श्रीमन्, आज मैं ही कर्त्तव्य पर रहा हूँ। आदेश कीजिये। कैसे स्मरण किया ?"

"वत्स ! सुनो, तनिक ध्यान से सुनो। दूर कहीं से किसी नारी के रुदन का स्वर आ रहा है। खोज करो, किसको क्या पीड़ा है ? उसकी समस्या का समाधान करो। मैं चाहता हूँ, इसके लिए तुम स्वयं ही जाओ।" नरेश इतना कहकर मौन हो गये और पुनः कान लगाकर उस स्वर को समझने का प्रयत्न करने लगे।

वत्स ने भी ध्यान लगाकर सुना। स्वर तो मन्द-मन्द सुनायी दिया, किन्तु वह कोई अनुमान नहीं लगा पाया। नरेश का आदेश था। "मैं प्रयत्न करता हूँ महाराज !" कहकर उसने झुककर प्रणाम किया और वहां से चल दिया। उसने प्रहरी को नियुक्त कर दिया और स्वर की खोज में निकल पड़ा। राजभवन से बाहर आकर उसने स्वर की दिशा पहचानी और उसी ओर आगे बढ़ने लगा। शब्दभेदी शरसंधान का अभ्यासी होने के कारण उसका दिशा-निर्धारण सही निकला। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया, स्वर अधिक से अधिक स्पष्ट होता चला गया। कुछ ही समय में उसे ज्ञात हो गया कि रुदन का स्वर श्मशान भूमि से आ रहा है। अँधेरे में भी दूर से अधजली चिताओं की अग्नि स्पष्ट दिखायी दे रही थी। अब तो वत्स और अधिक तीव्रता के साथ आगे बढ़ा। रुलाई का वेग भी उसे और अधिक बढ़ता प्रतीत होने लगा।

अन्ततः वह श्मशान भूमि के समीप पहुँच गया। एक चिता के प्रकाश में उसने एक नारी को देखा जो विलाप कर रही थी। उसके केश बिखरे हुए थे। लाल-लाल नेत्र अश्रु बहा रहे थे। आश्चर्यजनक यह था कि उसने बहुत ही चमकीली, रत्नजटित चुनरी ओढ़ रखी थी। निर्भीकता के साथ वत्स और भी आगे बढ़ा। उसने देखा कि समीप ही एक शूली थी, जिस पर किसी व्यक्ति को चढ़ा रखा था। अब उसे कुछ-कुछ अनुमान होने लगा। उसने साहसपूर्वक आगे बढ़ते हुए स्त्री के समक्ष आकर प्रश्न किया—भद्रे ! तुम क्यों रोती हो ? क्या कष्ट है तुम्हें ? उत्तर में स्त्री और वेग से रो पड़ी। उसका रुदन का बांध ही जैसे टूट गया हो। इस परिस्थिति में वत्स का हक्का-बक्का रह जाना स्वाभाविक ही था। कुछ क्षणों तक तो वह किंकर्तव्य-

विमूढ़ सा रह गया। अन्ततः उसने सामान्य होकर पुनः उस स्त्री से कहा—"भद्रे ! शान्त हो जाओ ! विपत्ति सभी पर आती है, पर धीरज को जो अपनाता है, विपत्ति पर वही विजयी हो पाता है। धीरज धारण करो और मुझे अपनी व्यथा सुनाओ।"

"क्या करोगे सुनकर मेरी व्यथा'''क्या करोगे तुम ? क्या तुम मेरी पीड़ा दूर कर दोगे ?" उस स्त्री ने कहा।

वत्स ने उसे पुनः आश्वस्त करते हुए कहा—"तुम अपना दुःख बताओ तो सही'''मुझे विश्वास है कोई-न-कोई राह निकल ही आयेगी। तुम शांति से अपनी सारी बात बता दो।"

एक लम्बी सांस छोड़ते हुए दुखिया ने कहा—"तो सुनो पथिक ! यह शूली पर चढ़ा हुआ व्यक्ति मेरा पति परमेश्वर है। मेरे पति को इस राज्य के राजा ने मृत्यु दण्ड दिया। मुझे राजा और उनके न्याय के विषय में कुछ भी नहीं कहना है। मेरी समस्या यह है कि मैं अपने पति की अन्तिम इच्छा भी पूरी नहीं कर पा रही हूँ। कल शाम को इन्हें सूली पर चढ़ाया गया। तब से मैं पुकार-पुकार कर सहायता मांग रही हूँ, पर कोई भी मेरी''''।"

"भद्रे ! तुम्हारी स्थिति वास्तव में बड़ी विषम है। मुझे तुमसे पूरी सहानुभूति है''''।"

"नहीं चाहिए''''नहीं चाहिए सहानुभूति मुझे किसी की" रोष में भर कर स्त्री एकदम चिल्ला पड़ी—"कर सको तो मेरी सहायता करो''''अन्यथा अपना रास्ता पकड़ो, समझे ?" और वह जोर-जोर से हाँफने लगी।

कुछ पल मौन रहकर वत्स ने सांत्वना भरे स्वर में फिर पूछा—"तुम्हारी कठिनाई क्या है''''तुम्हारे पति की अन्तिम इच्छा क्या है ?"

स्त्री ने तनिक सामान्य होते हुए शान्ति के साथ कहा—"मेरे पति मिष्ठान्नप्रिय रहे हैं। इनकी इच्छा मिष्ठान्न खाने की है—इसी में इनके प्राण अटके हुए हैं, किन्तु मैं यह इच्छा पूर्ण नहीं कर पा रही हूँ"—स्त्री ने विवशता दिखाते हुए कहा।

—"तो लो मैं अभी नगर से मिठाई लाये देता हूँ।"

—मिठाई मेरे पास है पथिक, मिठाई है मेरे पास, किन्तु''''

—फिर समस्या क्या है ? खिला क्यों नहीं देती ?

स्त्री ने मानो वत्स की बुद्धि पर तरस खाते हुए कहा, "कैसे खिला दूँ ? ये शूली पर कितने ऊँचे टंगे हैं। मेरा हाथ इनके मुख तक नहीं पहुँचता। क्या तुम मेरी कोई सहायता नहीं कर सकते ?"

"क्यों नहीं कर सकता"""मैं अवश्य तुम्हारी सहायता करूँगा। आओ, मेरे कंधों पर खड़ी होकर तुम अपने पतिदेव को मिठाई खिला दो। आओ """संकोच न करो।"

स्त्री उठी। शूली के पास बैठकर वत्सराज ने उसे अपने कंधों पर खड़ा कर लिया और सन्तुलन सँभालते हुए धीमे से खड़ा हो गया। इस समय उसको एक विचार आया कि स्त्री के दोनों हाथ रिक्त हैं। मिठाई""""? कुछ ही पलों में उसने असाधारण आवाज सुनी मानो कोई हड्डियाँ चबा रहा हो। वह कुछ सोचने का प्रयत्न कर ही रहा था कि भूमि पर उसके पांवों के समीप ताजा रक्त टपकने लगा।

विवेकवान वत्सराज को यह समझने में विलम्ब नहीं हुआ कि यह स्त्री नहीं 'व्यंतरी' है, मांस भक्षण ही इसका उद्देश्य था और इसी के लिए यह सारा अभिनय चल रहा था। उसने अवसर न चूकते हुए व्यंतरी को तुरन्त जोर से भूमि पर पटक दिया। भयानक चीख के साथ वह लुप्त हो गयी। वत्स ने लपककर उसे पकड़ लेना चाहा, किन्तु उसकी रत्न चुनरी ही उसके हाथ में रह गयी। व्यंतरी तो अन्तर्धान हो गयी।

प्रातःकाल जब वत्सराज नरेश के सम्मुख पहुँचा, वे महारानी कमलश्री के साथ उद्यान में विहार कर रहे थे। महाराजा के पूछने पर वत्स ने सारा वृत्तान्त विस्तार के साथ कह सुनाया और रत्नचुनरी महारानी को भेंट कर दी। इस जगमगाती चुनरी को देखकर मौसी की बांछें ही खिल गयीं। ऐसी सजीली-छबीली चुनरी उन्होंने तो कभी देखी भी नहीं थी। लगीं प्रशंसा के पुल बाँधने। काँधे पर लटकाकर, कमर में खोंसकर चुनरी के साथ अपनी शोभा को उन्होंने एक बार निरखा और मुग्ध हो गयीं। सचमुच ऐसा उपहार पाकर महारानी अपार हर्षित थीं। उन्होंने चुनरी पाकर सन्तोष भी व्यक्त किया और उसे तह करते हुए यह भी कह दिया, "केवल चुनरी का क्या होगा ? इसके साथ तो सर्वोत्तम जरी का कंचुक भी फीका लगेगा। वत्स, इसके जोड़ का रत्नकंचुक भी तो उपहार में दो।" इतना कहकर रानी कमलश्री फीकी सी मुस्कान दिखाने लगी।

"जी, मौसी ! आपका वत्स आपकी यह कामना भी पूरी कर देगा" आत्मविश्वास के साथ उसने कहा—"मात्र एक प्रहर का समय दीजिये।"

महारानी वत्स के कथन पर विश्वास करें या न करें—कुछ निश्चय नहीं कर पा रही थीं कि सहसा उनके मन में एक आशंका घिर आयी।

हड़बड़ाहट में वे बोल पड़ीं""""नहीं""नहीं, मैं तो विनोद कर रही थी। कहीं अपने को किसी संकट में नहीं डाल लेना।"

"किन्तु मैं विनोद नहीं कर रहा हूँ मौसी!" —वत्स ने आत्मविश्वास के साथ कहा—"केवल एक प्रहर में कार्य सम्पन्न हो जायगा।" यह कहकर उसने त्वरा के साथ प्रस्थान किया।

वास्तव में प्रहर के पूर्व ही वह लौट आया। अश्व पर सवार होकर गया था और गुरुकुल समीप के वन में उस वृक्ष के कोटर से कंचुक निकाल लाया। महारानी कमलश्री ने कंचुक देखा तो दंग रह गयीं। यह तो नहले पर दहला हो गया। चुनरी से भी अधिक सुन्दर था यह कंचुक। वह वत्स पर असीम प्रसन्न थीं। भीतरी कक्ष में जाकर उन्होंने कंचुक और चुनरी धारण की। बाहर आयीं तो उनकी देह दिव्य आभा से जगमगा रही थी। स्वयं नरेश भी यह शोभा निहारकर विस्मित रह गये।

शृंगार और शोभाशीलता के साथ स्त्रियों की नियति जुड़ी रहती है। ऐसे दिव्य वसन पाकर उनकी कामना और भी प्रज्वलित हो गयी। उदास होकर कहने लगीं—ऊर्ध्व वस्त्र इतने भव्य, इतने दिव्य और अधोवस्त्र (लहंगा) ऐसा तुच्छ! यह भी भला कोई मेल हुआ। हो तो सारा वेश ही रत्नजटित हो, अन्यथा इनका भी क्या उपयोग रहेगा।"

अन्तरात्मा की प्रेरणा से वत्स ने मौसी से कहा—"आपकी यह इच्छा भी पूरी होगी। मैं प्रण करता हूँ कि छः माह की अवधि में मैं रत्नजटित अधोवस्त्र लेकर लौटूंगा। असफल रहा तो अवधि समाप्ति पर मैं जहाँ भी होऊँगा—आत्मदाह करके अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दूँगा।" वत्स के मुख-मण्डल पर इस समय अपूर्व तेज छा गया।

महाराजा और महारानी दोनों इस प्रचण्ड प्रतिज्ञा से कांप उठे। वे वत्स के हठी स्वभाव से भी परिचित थे। दोनों ने उसे बहुतेरा समझाया, किन्तु उसने प्रतिज्ञा वापिस न ली। चारों ओर एक सनसनी फैल गयी। वत्स ने सहसा, अचिंत्य रूप में यह साहसिक कदम उठा लिया था। इस प्रतिज्ञा पूर्ति के पक्ष में न तो उसकी कोई योजना थी, न ही कोई सफलता का सूत्र। वह तो इसे भी अपने परम लक्ष्य की प्राप्ति में एक सहायक तत्व मान रहा था। प्रारब्ध ने ही उसे इस वचनबद्धता के लिए प्रेरित किया है—इस में कोई हित अवश्य ही निहित होगा—यह विश्वास उसके आत्म-बल को बढ़ा देता था।

११

वत्सराज लक्ष्य-प्राप्ति में पक्का लगनशील रहा करता था। उसकी लगन ही उसे सफलता भी प्रदान करती थी। उसने प्रचण्ड प्रतिज्ञा कर ली थी, किन्तु उसकी पूर्ति का कोई रास्ता उसे ज्ञात न था। रत्नजड़ित अधो-वस्त्र का उसे कोई अता-पता भी नहीं था। वह तो उसकी खोज में बस गृह त्याग कर निकल पड़ा था निस्संग, निर्जन पथ पर। एक खड्ग ही उसके साथ था। निर्भीकता के साथ वह नदियों, पर्वतों को लांघता आगे बढ़ा जा रहा था। सघन वनों में कई-कई दिन तक उसे आस-पास की किसी बस्ती के चिह्न भी नहीं दिखायी देते थे। न तो पालतू पशु दीख पड़ता था और न ही कोई व्यक्ति।

ऐसी ही दशा में वत्स अपनी धुन में आगे बढ़ा जा रहा था कि सहसा उसे कुछ लोगों के वार्तालाप का स्वर सुनायी दिया। वह किसी प्रकार का अनुमान लगाने में सफल नहीं हुआ कि ये कौन लोग हो सकते हैं, यहां क्यों एकत्र हैं? आगे के एक मोड़ पर से उसे कुछ दूरी पर एक छोटा सा जन समूह दिखायी दे गया। वत्स सतर्क हो गया। उसकी गति अपेक्षाकृत धीमी हो गयी। वह ध्यान से देखते हुए इन लोगों को पहचानने का प्रयत्न भी करने लगा। तभी उसे एक महिला अपनी ओर आती हुई दिखायी दी। वह तो अपने रास्ते आगे निकली जा रही थी, किन्तु वत्स ने प्रणाम करते हुए महिला को टोका, बोला—"बहन! इस वन में इतने लोगों को देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। यह तो वास्तव में 'निर्जन' ही पाया गया था, किन्तु ये लोग कौन हैं? यहाँ ये क्यों आये हैं? कुछ समझाकर मुझे बताओ"—इतना कह वह सुनने को उत्सुक, मौन हो गया। जिज्ञासा का भाव उसकी आँखों में तैरने लगा।

"यह एक लम्बी कहानी है, पथिक!"—कहती हुई वह एक वृक्ष की

उभरी हुई मोटी जड़ पर बैठ गयी। नीचे भूमि पर, सामने ही वत्स भी बैठ गया। "तुम जानना ही चाहते हो तो मैं तुम्हें सारा वृत्तान्त सुनाऊंगी, सुनो ..." कहते हुए दो पल के लिए वह मौन रह गयी, मानो आरंभ करने को उपयुक्त स्थल का निर्णय कर रही हो और तब उसने कहा—

"पथिक, श्रेष्ठी सोमदत्त कुछ दिन हुए, बेचारा इस वन में रहने लगा है। यों यह भी सम्पन्न, वैभवशाली यशस्वी व्यवसायी है, किन्तु कुछ समय से इसे दुर्भाग्य का ही सामना करना पड़ रहा है। ऐसा न होता तो बेचारे सोमदत्त को महाराजा नगर छोड़कर चले जाने का आदेश ही क्यों देते?"

इस समय तक वत्स की उत्सुकता बहुत बढ़ गयी थी। वह बीच ही में पूछ बैठा, "क्यों....क्यों....सोमदत्त से क्या अपराध हो गया?"

समझाने की मुद्रा में महिला ने कथा को अग्रसर करते हुए कहा—"नहीं....नहीं....अपराध कुछ नहीं। बात ही दूसरी थी। श्रेष्ठी सोमदत्त की एक गुणवती, सुन्दरी कन्या—सोमदत्ता है। इस बेचारी पर एक व्यन्तरी की बड़ी कष्टदायी छाया थी। व्यन्तरी ने उसे अपने शिकंजे में जकड़ रखा था। बेचारी सोमदत्ता की स्थिति बड़ी दयनीय थी। व्यन्तरी उसके तन में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के उपद्रव करती। सोमदत्ता के केश बिखर जाते, आंखें लाल, भौहें तनीं और सारे शरीर में अद्भुत वेग व स्फूर्ति आ जाती। वह अनेक प्रकार से उछल-कूद करती, चिल्लाती, शोर मचाती—

सोमदत्ता मेरी है....मैं इसे ले जाऊंगी। कौन इसका ब्याह करता है, किसके साथ करता है? मैं होने न दूंगी इसका ब्याह ...इस पर मेरा अधिकार है। सोमदत्ता मेरी है, सोमदत्ता मेरी है।"

वत्सराज की सारी चेतना सिमट कर उसके कानों में केन्द्रित हो गयी थी। महिला के एक-एक शब्द को वह बड़े ध्यान से सुन रहा था। कहानी आगे बढ़ी—"यह व्यन्तरी इस बेचारी सोमदत्ता को बहुत कष्ट देती थी। उसके मुख से रक्तस्राव होने लगता, अचेत होकर वह भूमि पर गिर पड़ती और घड़ियों तक उसकी यही दशा रहती।"

"आरम्भ में तो ऐसी घटना महीने में एक-दो बार होती रही, किन्तु धीरे-धीरे अन्तराल घटता रहा। जल्दी-जल्दी ऐसा होने लगा और एक स्थिति ऐसी आ गयी कि प्रायः प्रतिदिन यह लीला होने लगी। होता यह था कि जब सोमदत्ता अचेत हो जाती तो व्यन्तरी विदा हो जाती थी, किन्तु प्रस्थान से पूर्व वह वहाँ उपस्थित लोगों को मार देती थी। इस प्रकार नित्य

ही अनेक जन मरने लगे।" कथा को कुछ विराम देती हुई उस महिला ने ध्यान से वत्स के मुख को पढ़ा, गम्भीर संवेदना का स्पष्ट लेख अंकित था। उत्सुक वत्स ने पूछा—"फिर क्या हुआ ?" और वह कुछ समीप खिसक आया।

"पथिक समस्या गम्भीर होती गयी। महाराज ने सोमदत्त को आदेश दिया कि वह इस मृत्यु-लीला को बन्द करे। बेचारा श्रेष्ठी क्या कर सकता था भला ? वह तो स्वयं ही विवश था। अन्ततः महाराजा ने नागरिकों की रक्षा के लिए श्रेष्ठी सोमदत्त को उसकी पुत्री के साथ नगर त्याग कर वन में निवास करने की आज्ञा दी। और तब से वह बेचारा यहां उस सामने वाली कुटिया में रहता है। दुर्भाग्य अब भी उसका पीछा नहीं छोड़ रहा है।"—इतना कहकर महिला चुप हो गयी। उसकी कथा समाप्त थी। वत्स की उत्सुकता अभी भी बनी हुई थी उसने पूछा, "बहन ! फिर ये इतने लोग यहां क्यों एकत्र हैं ? क्या ये यह नहीं जानते कि उपस्थितजन मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ?"

"जानते हैं, पथिक ! सब जानते हैं, किन्तु इनकी भी अपनी विवशता है। बेचारे अपने परिवार पालने के लोभ में यहां आ जाते हैं।"—महिला ने बात को तनिक उलझा दिया।

वत्स ने स्पष्टीकरण चाहा—"सो कैसे ?"

"सो ऐसे कि"—महिला एक क्षण रुककर बोली, "अब प्रतिदिन एक व्यक्ति को श्रेष्ठी सोमदत्त द्वारा प्रहरी नियुक्त किया जाता है और अकेला वही मारा जाता है। श्रेष्ठी उसके परिवार को एक सहस्र स्वर्ण मुद्रा देता है। परिवार का दारिद्र्य दूर हो जाता है। ये इतने लोग इसी प्रयोजन से यहां एकत्र हैं कि इन्हें इनकी बारी की तिथि मिल सके। कैसी विडम्बना है—परिवार के भरण-पोषण के लिए आज मनुष्य अपने प्राणों की बलि देने को तत्पर हो गया है।" उसके मुख पर करुणा का भाव व्याप्त हो गया।

"समस्या बड़ी गम्भीर है"—चिन्तन की मुद्रा में वत्स ने कहा—"बहन ! क्या मैं भी इस संकट को दूर करने में कोई योगदान कर सकता हूँ ?"

—"क्या कर लोगे पथिक तुम ! तुम्हारी यह तलवार भी उस भयानक व्यन्तरी की क्या हानि कर सकेगी ?"

—"शायद न भी कर सके, पर बहन मैं केवल एक अवसर चाहता हूँ।"

—"तुम पथिक हो""अपने गंतव्य की ओर जाओ। क्यों इस व्यर्थ के झमेले में पड़ते हो। महाराजा की सेना भी इस व्यन्तरी को वश में नहीं कर सकी तो तुम क्या कर पाओगे? अपने प्राणों की आहुति क्यों देना चाहते हो? जाओ अपने मार्ग पर""।"

"नहीं बहन! नहीं, मैं बेचारी सोमदत्ता की पीड़ा से चिन्तित हूँ। उसे इस त्रास से मुक्ति मिलनी ही चाहिए। मुझे विश्वास है अब वह सुखी हो जायगी और इसका श्रेय कौन जाने मेरे ही भाग्य में बदा हो।"—वत्स के अधरों पर एक क्षीण सी मुस्कान फैल गयी। महिला ने उसकी भेंट श्रेष्ठी सोमदत्त से करवा दी।

वत्स की बातों का श्रेष्ठी के मन पर जादू का सा प्रभाव हुआ। उसे भीतर-ही-भीतर यह आभास होने लगा कि मानो उसके समस्त संकटों का मोचक देवदूत ही वत्स के रूप में आ गया हो। उसे अन्तःप्रेरणा हुई और उसने वत्स को उस रात्रि का प्रहरी नियुक्त कर दिया। तभी एक हड्डियों की ठठरी सा व्यक्ति आगे बढ़ा और आपत्ति के स्वर में बोला—"आज तो मेरी बारी है। मैं किसी को भी आज का प्रहरी बनने नहीं दूँगा। मैं""" बीच ही में वत्स बोल पड़ा—"बाबा! घबराओ नहीं। बारी तुम्हारी ही मानी जायगी। प्रहरी के रूप में तुम ही नियुक्त रहोगे। धन भी तुम्हें मिलेगा। मैं तो केवल इतना करूँगा कि आज तुम्हारे स्थान पर मैं चला जाऊँगा।" उस बेचारे को क्या चाहिए था—धन तो उसका सुरक्षित ही था, प्राणों की भी रक्षा हो गयी।

संध्या ढल रही थी। रात्रि उतर रही थी। सोमदत्त से नियुक्ति पाकर वत्स प्रसन्न था। उसने योजना गूँथनी शुरू कर दी। उसको आवश्यकता थी किसी वृक्ष के तने की। कुछ लोगों ने सहायता की और तना कुटिया के भीतर पहुँचा दिया गया। इसे देखकर बेचारी सोमदत्ता असमंजस में पड़ गयी—इसका क्या होगा? तभी वत्स ने प्रवेश किया। आज के प्रहरी को देखकर श्रेष्ठि-कन्या विचलित हो गयी। उस अपार रूपवान युवक पर उसे करुणा हो आयी—यह मरने योग्य नहीं""इसे मैं बलि नहीं चढ़ने दूँगी"" चाहे मेरे ही प्राण क्यों न चले जायँ। सोचते-सोचते उसकी वाणी भी मुखर हो उठी—"कुमार! तुम क्यों मेरे लिए मरना चाहते हो""चले जाओ, लम्बा, सुन्दर जीवन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। मैं तुम्हें मरने नहीं दे सकती, तुम""।"

"व्याकुल न हो श्रेष्ठि-कन्या !" सोमदत्ता को सम्बोधित करते हुए वत्स ने कहा—"व्यन्तरी मेरा कुछ अनिष्ट नहीं कर सकेगी। मुझे विश्वास है आज की रात्रि तुम्हारे संकट की भी अन्तिम रात्रि होगी। तुम चिन्ता छोड़कर मेरी सफलता की कामना करो।" और सोमदत्ता की आँखें मुँद गयीं, याचना की मुद्रा में उसकी दोनों हथेलियाँ खुलकर फैल गयीं।

वत्स ने वृक्ष के तने को एक ओर ठीक से रखा और उसे श्वेत चादर से ढक दिया। ऐसा आभास होने लगा—जैसे कोई सो रहा हो। एक बार उसने अपनी तलवार को सँभाला और तब भीतर ही दुबक कर बैठ गया। उसके नेत्रों में नींद नहीं थी। सोमदत्ता तो अपने समय पर सो गयी। अर्द्ध-रात्रि में उसने कराहना आरम्भ किया। सहसा वह उठ बैठी। कुछ ही क्षणों में वह आवेश से घिर गयी। उसका स्वरूप अत्यन्त भयानक और विद्रूप हो गया। अन्ततः जब वह अचेत होकर गिर गयी तो वत्स को कुटिया में अन्य नारी छाया का आभास होने लगा। इस स्त्री की हथेली में छोटी-छोटी दो डिबियाएँ थीं। उसने एक डिबिया खोली और सब ओर धुआँ फैल गया। वत्स अतिरिक्त सतर्कता के साथ कुछ आगे खिसक आया। उसने देखा कि व्यन्तरी चादर की ओर हाथ बढ़ाकर गला दबाने का प्रयत्न कर रही है—उसने पूरी शक्ति के साथ खड्ग का प्रहार किया। व्यन्तरी के हाथ पर भीषण आघात हुआ। आसपास रक्त फैल गया और वह भयानक चीत्कार के साथ भाग खड़ी हुई। उसकी दोनों डिबियाएँ भी कुटिया में गिर पड़ीं। सावधानी के साथ वत्स ने उन्हें उठा लिया। सोमदत्त के साथ तुरन्त अनेक लोगों ने कुटिया में प्रवेश किया। वहां फैला हुआ रक्त देखकर वे चकित रह गये। व्यन्तरी की भयानक चीख सभी ने सुनी ही थी। सोमदत्त ने वत्स से पूछा—"तुम सकुकल तो हो न'''यह रक्त कैसा ?"

वत्स ने व्यंतरी के हाथ पर किये गये प्रहार की चर्चा की। उसने यह घोषणा भी की कि अब यह प्रसंग ही समाप्त हो गया है। अब कोई संकट शेष नहीं रहा। व्यतरी कभी भी अब यहाँ नहीं आयगी। सोमदत्ता को सदा-सदा के लिए उससे मुक्ति मिल गयी है। यह सुनकर श्रेष्ठी सोमदत्त की प्रसन्नता का पारावार ही नहीं रह गया। उसने आगे बढ़कर वत्स को गले लगा लिया और दृढ़ता के साथ आलिंगनबद्ध करते हुए कहा—"धन्य हो तुम ! और धन्य है तुम्हारी जननी, जिसने तुम जैसे धीर-वीर को जन्म

दिया। पुत्र के सुकर्म से माता-पिता का यशोगान हो, पुत्र के लिए यही सच्ची कमाई होती है।"

उपस्थित जनों ने वत्स की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वत्स के जय-जय-कार से आकाश गूंज उठा। इसी समय सोमदत्ता भी चेत में आ गयी। उसने अपने रक्षक युवक को सकुशल, प्रसन्न देखा तो उसके अन्तर् मन में भी एक संतोष अनुभव हुआ। वह सोचने लगी—तो वे ठीक ही कहते थे। आज की रात्रि ही संकट की अन्तिम रात्रि हो गयी। ऊपर वाले ने मेरी सुन ही ली, रूपवान नवयुवक की कोई हानि नहीं हुई। हानि उनकी नियति में ही नहीं है। मेरे लिए कितना साहस दिखाया उन्होंने, किन्तु ऐसा क्यों किया उन्होंने? सहसा उसने अधर को दाँतों से हौले से दबा लिया। उसकी पलकें झुक गयीं।

कृतज्ञ श्रेष्ठी सोमदत्त तो तत्काल एक अनुकूल निश्चय किया। उसने वत्सराज का उपकार मानते हुए उसका आभार व्यक्त किया और कहा कि तुमने सोमदत्ता की रक्षा की, उसे भयानक संकट से उबारा है, अब उस पर तुम्हारा ही अधिकार है। वत्स और सोमदत्ता के हाथ आपस में मिलाते हुए श्रेष्ठी ने कहा कि आज से तुम दोनों जीवन-साथी हुए।

कालान्तर में श्रेष्ठी अपने नगर में लौटा। स्वयं नरेश वीरसिंह ने भूततिलक नगर में उसका स्वागत किया। यहाँ भव्यता और वैभव के साथ सोमदत्ता के साथ वत्सराज का परिणय विधिवत् सम्पन्न हुआ। दोनों के जीवन का एकाकीपन समाप्त हुआ। वे सुख से रहने लगे।

कुछ दिन तो इसी प्रकार सुख से बीते, किन्तु प्रणबद्ध वत्स यों निष्क्रिय कैसे रह सकता था। उसने तो एक पल के लिए भी अपनी प्रतिज्ञा को विस्मृत नहीं किया। प्रीतिपूर्वक सोमदत्ता को आश्वस्त कर उससे उसने अनुमति ले ही ली, श्वसुर से भी उसने अनुमति ली और अपने ध्येय मार्ग पर वह फिर से आगे बढ़ गया। उसकी दीर्घ यात्रा में यह एक सुखद पड़ाव था।

१२

सघन वनश्री अपने चरम और परम यौवन पर थी। सभी ओर घनी हरियाली छायी थी। कहीं छोटी-छोटी घास से पटा मैदान कालीन का आभास कराता था, तो कहीं वह उन्मुक्त रूप से इधर-उधर फैल रही थी। फूलों के बूटों से घिरी पगडंडियों पर वत्स उत्साहपूर्वक बढ़ता चला जा रहा था—एक अज्ञात गंतव्य की ओर। चलना और चलना, चलते ही रहना उसकी नियति बन गयी थी। सप्ताहों तक चल चुकने पर भी वत्स का मन उकताया नहीं था। वन्य जीव-जन्तु और वनस्पति—बस यही उसके सम्पर्की रह गये थे। कहीं भी उसे कोई मनुष्य नहीं दिखायी दिया था—एक अर्सा यों ही बीत गया था। उसे दूर एक पहाड़ी झरना दिखायी दिया और वह लपक कर उधर ही बढ़ चला। कुछ समीप आने पर उसने पाया कि एक अनुपम सुन्दरी झरने का जल अपनी गागर में भर रही थी। उसे बड़ा विचित्र सा अनुभव होने लगा। सोचा, कदाचित् वह किसी ग्राम के समीप आ गया है, ग्राम जो उसके सपनों से भी दूर हो गये थे। एक स्वजाति प्राणी (मनुष्य) को देखकर वह उत्साहित हुआ, उसके मन में आत्मीयता उमड़ आयी। वह लम्बे-लम्बे डग भरते हुए सुन्दरी के समक्ष जा पहुँचा। बोला—"मैं वत्स हूँ""वत्सराज""तुम कौन ? तुम्हारा गाँव कितनी दूर होगा ?"

सुन्दरी अतिशय कोमलांगिनी थी, वैसी ही निस्संकोच। उसने बड़ी ही स्पष्टता के साथ कहा—"न मैं मानवी हूँ, न यहाँ कोई ग्राम है। घने वन में, यहाँ समीप ही एक व्यंतरी देवी का निवास है। मैं उन्हीं की परिचारिका हूँ।"

"ओह ! तो तुम देव कन्या हो""अब समझा"—तनिक अचरज की मुद्रा में उस सुन्दरी को ताकते हुए वत्स ने कहा—"किन्तु देव जाति को तो जल की कभी भी आवश्यकता नहीं रहती।" "तुम ··" गागर की ओर संकेत करते हुए उसने कहा—"गागर""।"

आशय भाँपकर तुरन्त ही सुन्दरी कह उठी—"समझी-समझी····पानी ले जाते देखकर तुम विस्मित हो। सुनो, मेरी स्वामिनी अतिशय कष्ट में हैं। दिन-रात पीड़ा से कराहती रहती हैं। उनके हाथ में एक भारी व्रण (घाव) है। उसकी पीड़ा से वह उद्विग्न रहती हैं। "

सुन्दरी की बात बीच ही में काटकर अति उत्सुक वत्स ने सहानुभूति जताते हुए कहा—"ओहो····हो ! ऐसी पीड़ा। बेचारी वास्तव में बड़े कष्ट में होंगी। किन्तु क्या हो गया था, घाव कैसे लगा ?"

सुन्दरी का उत्तर था—"कुछ दिनों पूर्व किसी ने उनके हाथ पर तलवार का प्रहार कर दिया था। घाव इतना गहरा है कि भरने को ही नहीं आता है। कहा जाता है कि इस झरने के जल से पीड़ा भी कम हो जाती है और घाव भी भरने लगता है।"

वत्स को कुछ साफ संकेत मिलने लगे थे कि सुन्दरी की स्वामिनी कौन है ! किन्तु वह अपने भावों को छिपाये रहा। सर्वथा अनभिज्ञ, अपरिचित बना रहा। कुछ स्मरण करते हुए तब सुन्दरी ने पुनः बात आरंभ कर दी—"जिस समय प्रहार किया गया था स्वामिनी के हाथ में दो डिबियाएं भी थीं। हड़बड़ी और पीड़ा के कारण, वे भी कहीं गिर पड़ीं।"

वत्स को सूत्र मिलता जा रहा था। वह उसे और खींचकर परख लेना चाहता था। इसी दृष्टि से उसने और भी पूछा—"किन्तु तुम लोगों को व्रण के लिए झरने के जल की आवश्यकता क्योंकर हुई। तुम्हारे····"

"हाँ····हाँ····मैं समझ गयी कि तुम क्या कहना चाहते हो। व्रण संरोहणी औषधि मेरी स्वामिनी के पास भी थी, पर वह उन दो में से एक डिब्बी में थी जो प्रहार के समय वहीं छूट गयी थीं।"—सुन्दरी ने अपनी बात पूरी की और वत्स दूसरी डिबिया का रहस्य जान गया। उसे बड़ा अच्छा लगा। उसने उमंगित होकर कहा—"सुनो, यदि तुम्हारी स्वामिनी चाहें तो मैं उनकी पीड़ा समाप्त कर सकता हूँ। उनका व्रण देखते ही देखते अच्छा हो जायगा।"

सुन्दरी के मुख से प्रसन्नता की एक चीख सी निकल पड़ी—"सच !···· क्या सचमुच तुम उनका कष्ट मिटा सकते हो। तब तो तुम बड़ा उपकार करोगे। चलो मेरे साथ ।" कुछ सोचकर तब उसने फिर कहा—"नहीं···· नहीं तुम यहीं ठहरो मैं स्वामिनी की अनुमति ले आती हूँ।" इतना कह कर वह चली गयी। कुछ पलों में वत्स ने देखा टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों को

पार करती वह सोत्साह उछलती-कूदती भागी चली आ रही है। समीप आकर उसने हर्षित स्वर में वत्स से कहा—"चलो शीघ्र चलो पथिक"" मेरी स्वामिनी ने तुम्हें तुरन्त बुलाया है।" और वह वत्स का हाथ पकड़ उसे दौड़ाती हुई ले चली।

दूर से ही वत्स ने व्यंतरी देवी की कराहें सुनीं। पीड़ा से वह छट-पटा रही थी। लगता था, वह कई दिनों से सो भी नहीं पायी थी। दूर से ही वत्स ने एक डिबिया खोली और सब ओर अपारदर्शी आवरण छा गया। धुएं के उस वातावरण में उसने दूसरी डिबिया खोलो और औषधि के प्रयोग से देवी का घाव ठीक हो गया; न पीड़ा रही, न कसक। उसने बड़े दिनों बाद सुख-चैन की एक लम्बी साँस ली। वह संतुष्ट थी, प्रसन्न थी। धुआं कम होने पर उसने आगन्तुक युवक को देखा। उसके पास दोनों डिबियाओं का होना, कमर में अभी भी तलवार का होना—ये कुछ ऐसे चिह्न थे जो विश्वास करा देते थे कि हाँ, यही वह युवक है, जिसने सोमदत्ता के यहाँ उस पर वार किया था। उसने वहाँ इसे देखा नहीं—यद्यपि यह भी सत्य था। वत्स के इस उपकार ने व्यंतरी देवी के मन के वैरभाव को कुछ धुला दिया। और अब वह कुछ सहिष्णु हो गयी थी, फिर भी अपने उस अपमान को वह पूर्णतः भुला नहीं पायी थी। उसने तनिक रूक्ष स्वर में कहा, "तो तुम ही हो जिसने तलवार का वार कर मुझे आहत किया था" उसकी भौंहें कुछ खिंच गयी थीं।

कुलीन वत्सराज वाणी से बड़ा संयत और मृदुभाषी तो था ही, बोला—"देवि ! शान्त हों !! आपका अनुमान सत्य ही है। मैंने ही आपको हानि की थी। अब प्रस्तुत हूँ। जो भी दण्ड देना चाहें—मुझे स्वीकार है।"

व्यंतरी देवी वत्स की अपराध-स्वीकृति और विनय से बड़ी प्रभावित हुई। उसने प्रसन्नतापूर्वक उसे क्षमा कर दिया। वह उसकी पीड़ा का निवा-रक रहा है—यह मानकर उसका मन वत्स के प्रति आभारी भी था। अपनी वाणी में समस्त स्नेह घोलते हुए उसने वत्स से कुछ मांग लेने को कहा।

माँगने का संदर्भ आया तो उसे सुन्दरी की बात का ध्यान आ गया जो उसने कुछ ही समय पूर्व मार्ग में उसे बतायी थी। वत्स ने पुनः विनय के साथ कहा, "देवि ! यों मुझे कुछ नहीं चाहिये किन्तु यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहती हैं तो फिर मुझे अपने पास की दोनों कन्याएं दे दीजिये, वह आकाशगामी पर्यंक और अश्व यक्ष भी मैं आपसे प्राप्त कर लेना चाहता हूँ।"

वत्स का यह माँग करना था कि विस्मय के साथ व्यंतरी देवी की

आँखें बड़ी-बड़ी हो गयीं। कुछ क्षण उसका मुख खुला ही रह गया और वह अवाक् रह गयी। उसने तब कहा—"युवक! तो तुम वत्सराज हो! हो न!!"

आश्चर्यचकित वत्स ने पूछा—"हाँ, हूँ, किन्तु आपको मेरा नाम कैसे मालूम हो गया? मेरा तो आपसे कभी कोई परिचय नहीं रहा।"

"हाँ, तुम ठीक कहते हो वत्स, कोई परिचय नहीं रहा। अभी भी मैं तुम्हारे नाम के अतिरिक्त कुछ भी तुम्हारे विषय में नहीं जानती। नाम जानने के पीछे भी एक कथा है" यह कहते हुए व्यंतरी देवी ने अतीत कथा वर्णित कर दी। यह कहानी दो राजाओं और उनकी दो-दो रानियों की थी। विद्याधर राजा पवनगति चमरचंचा का और शूरसिंह वसन्तपुर का नरेश था। राजा पवनगति की बहन शशिचूला शूरसिंह की रानी थी। राज-दम्पति के मध्य प्रगाढ़ प्रीतिभाव था—काफी समय तक रहा। कालान्तर में रतिचूला राजा शूरसिंह के जीवन में आ गयी। राजा के लिए वह विशिष्ट अनुराग की पात्र होती चली गयी। शशिचूला के लिए तब तो रतिचूला सर्वथा असह्य हो गयी जब शूरसिंह ने उससे विवाह कर लिया, वह नव-रानी हो गयी। शशिचूला की आशंका सत्य होने लगी—राजा रतिचूला से ऐसा अनुरक्त हो गया कि शशिचूला को वह भूल ही गया। वह स्वाभि-मानिनी नारी अपनी उपेक्षा को सहन नहीं कर पायी। दास-दासी भी उसकी ओर से उदासीन रहने लगे। अन्ततः वह पति-गृह त्याग कर चमरचंचा चली आयी। भाई राजा पवनगति ने उसे सहारा दिया। अब भी उसका मन सौतिया डाह से धधक रहा था। वह सोचती रहती थी कि उस चुड़ैल से प्रतिशोध लेकर ही रहूँगी। मरकर भी उसका पीछा मैं नहीं छोड़ने वाली···· कभी नहीं छोड़ने वाली····।

राजा पवनगति की भी दो रानियाँ थीं—सुवेगा और मदनवेगा। राजा पवनगति की दो युवा राजकुमारियाँ भी थीं। एक का नाम था—स्वर्णचूला और दूसरी का था—रत्नचूला। इनके विवाह योग्य हो जाने पर पिता इनके लिए वरों की खोज में व्यस्त हो गया। तभी एक प्रातः राजा के पूज्य गुरुदेव पधारे। जब उनके समक्ष नरेश पवनगति ने अपनी जिज्ञासा की कि गुरुदेव! मेरी पुत्रियों का विवाह किन के साथ होगा?

गुरुदेव ने अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक कहा कि राजन् तुम्हारी दोनों राज-कुमारियों का विवाह एक ही राजकुमार के साथ होगा। राजकुमार शूर-वीर, बलशाली, निर्भीक होगा और स्वयं आकर राजकुमारियों का हाथ

माँगेगा। किन्तु राजन्, सुनो इनके विवाह-पूर्व तुम्हारा स्वर्गवास हो जायगा। राजकुमारियों की बूआ यह विवाह सम्पन्न कराएगी। गुरुदेव ने शशिचूला को जामाता का नाम भी बता दिया था।

एक ही माह में राजा पवनगति का देहावसान हो गया। दुर्भाग्यपूर्ण यह रहा कि कुछ ही कालोपरान्त शशिचूला का भी देहान्त हो गया। मृत्यु के पश्चात पवनगति व्यंतर और शशिचूला व्यंतरी बनी। उसने पूर्वभव में राजकुमारियों का विवाह सम्पन्न करने का दायित्व ग्रहण किया था। व्यन्तरी देवी अब भी उसका निर्वाह करना चाहती थी। अतः अपने साथ राजकुमारियों को लेकर वह वन में रहने लगी।

उसी व्यंतरी के पास वत्स पहुँचा था। जब उसने राजकुमारियों की माँग की तो वह पहचान गयी कि यही हमारा जामाता है और उसने माँग स्वीकार करते हुए आगन्तुक का नाम भी बता दिया जो उसे गुरुदेव से ज्ञात हुआ था। व्यन्तरी ने स्मरण किया भाई पवनगति ने उसे अश्व रूप में एक यक्ष और गगनगामी पर्यंक दिया था और कहा कि ये दोनों वस्तुएं जामाता को दे देना। आज जब ये वस्तुएं भी वत्स ने माँगी तो व्यंतरी को इसमें कोई संदेह नहीं रहा कि यही युवक हमारा जामाता होना चाहिये।

शीघ्र ही समस्त उपक्रम कर राजकुमारियों का विवाह वत्सराज के साथ सम्पन्न करा दिया गया। वत्स को पर्यंक और अश्व भी उपहार में मिला। दिव्य वस्त्रालंकार भी दिये गये। अनुपम दीप्ति वाला रत्नजटित अधोवस्त्र (लहगा) भी इसमें सम्मिलित था। इसे पाकर वत्स की तो बाँछें ही खिल गयीं। उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई।

उपयुक्त अवसर पाकर वत्स ने व्यंतरी से पूछा—"देवि! आपने श्रेष्ठी कन्या सोमदत्ता को क्यों इतना कष्ट दिया? आपका उससे क्या वैमनस्य था?" प्रश्न के उत्तर में उसने बताया कि राजा शूरसिंह की दो रानियाँ थीं—शशिचूला और रतिचूला। नयी रानी रतिचूला ने राजा पर अपने रूप का ऐसा जादू कर दिया कि वह प्रथम रानी को भूल ही गया। इस अपमानित, उपेक्षित रानी शशिचूला ने नयी रानी से प्रतिशोध लेने की ठान ली थी। मरकर वही शशिचूला व्यंतरी बनी, तुम्हारे सामने खड़ी है। नयी रानी रतिचूला मृत्यु के पश्चात् अन्य भव में सोमदत्ता बनी। अब तुम समझ गये होगे कि हमारा क्या वैमनस्य रहा? प्रतिशोध और उत्तरदायित्व पूर्ण हो जाने पर व्यंतरी शशिचूला शान्त और संतुष्ट हो गयी। ❋

१३

वत्सराज की प्रतिज्ञा की छः माह की अवधि का समापन समीपतम आ गया था। केवल एक ही दिवस शेष रह गया था। धारिणी और सोमश्री दोनों बड़ी चिन्तित थीं। वत्स की गति-प्रगति की भी कोई सूचना नहीं थी। माँ के नेत्रों में आर्द्रता छा गयी। वह अपने पुत्र के कुशल-क्षेम हेतु मनौतियाँ मनाने लगी थीं। बड़ी माँ को पक्का भरोसा था। वह धारिणी को प्रबोधन देने लगीं—"अभी तो कल का दिन शेष है। तू व्यर्थ ही व्याकुल होती है। वत्स कल तक अवश्य आ जायगा, आज भी आ सकता है। विश्वास कर, अपना प्रण पूरा करके ही वह लौटेगा।" धारिणी ने भर्राये कण्ठ से कहा—"कौन जाने जीजी, तुम ठीक ही कहती हो। तुम्हारी वाणी सत्य सिद्ध हो"—और अपनी छलछलाई आँखें छिपाने को धीमे से उसने मुख एक ओर को कर लिया।

इसी समय प्रासाद के प्रांगण से वत्स का स्वर आया—

"बड़ी माँ····माँ····हम आ गये हैं। हम आ गये हैं माँ!" ऊपर से बड़ी माँ ने झुककर झाँका। आंगन में वास्तव में वत्स ऊपर गर्दन उठाए खड़ा था। हर्षातिरेक से बड़ी माँ रोमांचित हो उठी—"आ लाल, आ, धारिणी चल नीचे चल, तेरी कामना फल गयी। वत्स आ गया—आ गया है वत्स।"

दोनों बहनें शीघ्रता से नीचे उतर आयीं। उन्हें आश्चर्य था कि अभी मुख्यद्वार ही बन्द है—यह यहाँ····। उनके अचरज का ठिकाना नहीं था। यह सब क्या माया है!! "माँ ···बड़ी माँ तुम भय न खाओ। कोई जादू नहीं है। मैं द्वार से आने वाला नहीं, मैं तो गगन मण्डल से सीधा भीतर के उद्यान में उतर गया हूँ। यह साधन मुझे अब मिल गया है।"

सुनो माँ, सुनो बड़ी माँ, मैं सफल होकर आया हूँ—कहते हुए उसने दोनों के चरण स्पर्श किये। हाथ उठाकर दोनों ने आशीष दीं। "मैं रत्नों जड़ा लहंगा ले आया हूँ। चलो माँ····उद्यान में चलो। मैं तीन और सफल-

ताएँ लेकर लौटा है। देखोगी तो तुम स्तब्ध रह जाओगी।" यह कहते हुए वह दोनों को मानो धकेलता हुआ सा उद्यान की ओर ले चला। तीनों वधुओं ने नमन कर दोनों माताओं के चरण छूए। वत्स ने बताया—"माँ, यह सोमदत्ता है, यह स्वर्णचूला और यह रत्नचूला—तीनों तुम्हारी बहुएं हैं।" माताओं की जी की कली खिल गयीं। ढेरों आशीषों के साथ उन्होंने वधुओं की अगवानी की। सारे प्रासाद में आमोद मानो उन्मत्तता के साथ नाच उठा। एक माधुर्य सर्वत्र व्याप्त हो गया।

× × ×

राजभवन में विद्युत-तरंग की भाँति सर्वत्र यह समाचार व्याप्त हो गया कि वत्सराज अपना प्रण पूरा कर लौट आया है। नरेश जितशत्रु को गर्व का अनुभव हो रहा था, तो रानी कमलश्री को गौरव का। राजपरिवार के सदस्यों को प्रसन्नता का अनुभव हो रहा था तो श्रीदेवी को हर्ष का, किन्तु मंत्रियों को ईर्ष्या हो रही थी। वत्स की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा को वे स्वय के लिए घातक मानते थे।

राजदरबार खचाखच भरा था। समय पूर्व ही सभ्यजनों ने आकर अपने स्थान ग्रहण कर लिये। दर्शक दीर्घाओं में विशद् जनसमूह एकत्र था। सर्वत्र एक कुतूहल, एक औत्सुक्य छाया हुआ था। महाराज जितशत्रु और रानी कमलश्री भी अपने आसनों पर विराजित थे।

राज-दरबार की परम्पराओं, मर्यादाओं का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए भी उपस्थित जन मंद स्वर में वार्तालाप कर लेने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहे थे। सभी के अधरों पर वत्स और उसकी सफलता की ही चर्चा थी। इसी समय वत्सराज ने राजसभा में प्रवेश किया। अनुचर के हाथों पर एक बड़ा थाल था जिस पर सुन्दर आवरण था। महाराज के समक्ष उपस्थित होकर वत्स ने नमनपूर्वक प्रणाम किया। नरेश व रानी ने हाथ उठाकर अभिवादन को उत्तरित किया। अत्यन्त शिष्टता के साथ वत्स ने थाल को अनावृत किया, अनुचर से स्वयं थाल ग्रहण कर सधे कदमों से वह महारानी की ओर आगे बढ़ा। सर्व दिशाएं रत्नजटित अधोवस्त्र की जगमगाहट से आलोकित हो उठीं। उपस्थित जन उत्सुकतावश अपने स्थानों पर खड़े हो गये। पिछली पंक्तियों में खड़े लोग पंजों पर उचक-उचककर देख लेना चाहते थे, उस दिव्य-भव्य वस्त्र को। थाल में एक ज्योतिपुंज ही दिखायी देता था, दीप्ति का एक समूह, कान्ति का केन्द्र।

अत्यन्त नम्रता के साथ वत्स ने महारानी को यह थाल भेंट कर

दिया। रानी ने हौले से स्पर्श कर थाल परिचारिका की ओर खिसकाया। वत्स का उन्होंने साधुवाद किया। महाराज ने वत्स के साहस, लगन और चातुर्य की प्रशंसा की और पुरस्कार स्वरूप अपने कंठ से मोतियों की माला निकालकर वत्स के कंठ में डाल दी। सम्मान पाकर वत्स कृतकृत्य हो गया। शीष झुकाकर आभार ज्ञापित किया और वह एक ओर खड़ा हो गया। उसे सराहा गया - उसे सब कुछ प्राप्त हो गया, वह निहाल हो गया।

× × ×

राजा और रानी दोनों ही वत्स के प्रति वात्सल्य भाव रखते थे। उसकी उन्नति, उसकी प्राप्ति से राजदम्पति को प्रसन्नता होती। वे उसकी प्रगति की कामना करते थे। रानी कमलश्री ने रतन-जटित वस्त्र धारण किये तो वह अनुपम देवी-सी दिखायी देने लगी थीं। उनका रूप ही अलौकिक हो गया था। एक बार पुनः उन्होंने वत्स के साहस और कौशल को स्मरण किया।

सभी वत्स की इस प्रवास की उपलब्धि रत्न-अधोवस्त्र को ही मान रहे थे। माँ''''बड़ी माँ को ही ज्ञात था कि वह अनुपम सुन्दरी तीन वधुओं के साथ लौटा है। अन्य कोई भी यह तथ्य नहीं जानता था। राजा-रानी से तो वह इसे विशेष रूप से गुप्त रखना चाहता था। किसी दिन सहसा वह उन्हें अचरज में डाल देना चाहता था।

इस विषय में वह बड़ा सतर्क रहा। वधुएं प्रासाद के भीतर ही रहीं। वह उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में ही था कि सहसा एक अघटनीय, दुर्भाग्य-पूर्ण घटना हो गयी। एक प्रातः यह अमंगल समाचार फैला कि महारानी कमलश्री इस असार संसार को त्यागकर अपवर्ग को प्राप्त कर चुकी हैं। सर्वत्र नैराश्य और शोक छा गया। जन-जन के नेत्र चू पड़े। धारिणी और सोमश्री के तो दुःख और वेदना का कोई पारावार नहीं रहा। धारिणी रो-रोकर थकती नहीं थी। सोमश्री तो इस वज्रपात से पत्थर की प्रतिमा ही हो गयी थी। अचल, मौन, अपलक-सी बैठी रह गयी। तीन बहनों की यह त्रिवेणी थी। अब गंगा-यमुना शेष रह गयी थीं, सरस्वती लुप्त हो गयी, अदृश्य हो गयी। सारे नगर की समस्त पताकाएं आधी झुका दी गयीं। सारा राज्य शोकग्रस्त था। कमलश्री रानी के न रहने से, वत्सराज से मौसी का स्नेह छिन गया। सोमश्री तो उसकी मां ही थी, बड़ी मां। उसे अनुभव होने लगा था कि मानो एक विराट् शून्य, एक रिक्तता छा गयी। △

१४

वत्सराज का प्रासाद समस्त राजसी वैभव और सुख-सुविधाओं से सम्पन्न था। सुन्दर, कलात्मक साज-सज्जा मन मोह लेती थी। सुशिष्ट, विनयशील सेवकों से संभ्रान्ततायुक्त वातावरण बना रहता था। शान्ति और निश्शब्दता इस वातावरण की ऐसी विशेषता थी जो सभी को प्रिय थी, कोई भी उच्च स्वर में वाणी का प्रयोग कर इस विशेषता को घटाना नहीं चाहता था। काम-काज भी सावधानी से होता—अनावश्यक खड़खड़ाहट का भी कोई नाम नहीं था।

तीन-तीन नव-वधुएं थीं, किन्तु कोई विशेष चहल-पहल नहीं। यह स्वारोपित प्रतिबंध था। इनकी उपस्थिति को गोपनीय रखे जाने का विशेष प्रयोजन था। वत्स किसी दिन सहसा नरेश जितशत्रु को जताकर चमत्कृत कर देना चाहता था। इस दृष्टि से वत्स को आज का दिन बड़ा उपयुक्त लगा। उसने तीनों नव-वधुओं को बुलाया और उनसे अपने विचार के संबंध में चर्चा करने लगा। वत्स ने कहा कि वह आज सायं महाराज को अपने यहाँ भोज पर आमंत्रित करना चाहता है। उच्च स्तर का यह प्रीतिभोज होगा—एक से बढ़कर एक सुन्दर व्यवस्थाएं होंगी। षट्रस का भोजन होगा—भाँति-भाँति के व्यंजन होंगे। महाराज के साथ प्रमुख अधिकारियों, अमात्यों, सामंतों का विशाल समूह भी होगा।

तीनों वधुएं चुपचाप सुनती जा रही थीं। सहसा सोमदत्ता बोल पड़ी—"आज ही संध्या को····कैसे होंगी सारी व्यवस्थाएं इतनी शीघ्रता के साथ। क्या कुछ रुककर····?"

वत्स ने कहा—"कोई चिन्ता की बात नहीं है। हमारा अश्वयक्ष पूरा सहयोग करेगा – वही सारा प्रबन्ध कर देगा। तुम्हें कोई श्रम नहीं करना

होगा। हाँ""एक भूमिका तुम्हारी अवश्य होगी।" इतना कह, वत्स कुछ क्षण के लिए मौन हुआ। उसने तीनों के मुखों के भाव पढ़ लेने का प्रयत्न किया। वधुएं कुछ जिज्ञासु, कुछ चिन्तित लगीं। निराकरण के स्वर में उसने आगे कहा—"तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। करना तुम्हें मात्र इतना है कि महाराज एवं कुछ अन्य प्रमुख व्यक्तियों को आग्रहपूर्वक एक-एक व्यंजन परोसना है।"

"इसका क्या अर्थ है ?" स्वर्णचूला ने पूछ लिया। "अर्थ कोई विशेष नहीं," वत्स ने उत्तर दिया—"इस बहाने महाराज से तुम लोगों का साक्षात्कार हो जायगा—इसी प्रकार भेंट करायी जायगी, तुम लोगों की।"

रत्नचूला को यह बात भली नहीं लगी। उसने तनिक विरोधी स्वर में कहा—"स्वामी, यह उपयुक्त नहीं रहेगा। हम क्यों राजा के समक्ष जाएं ? यह तो मर्यादा के प्रतिकूल है।"

"रत्नचूला सत्य ही कहती है"—स्वर्णचूला ने कहा—"राजा अन्ततः राजा ही तो होता है। कहीं उनकी दृष्टि में मलिनता आ गयी तो""?"

"अरे, यह सब तुम्हारा भ्रम है"—वत्स ने बात काटते हुए कहा—"तुम महाराज जितशत्रु के चरित्र से परिचित नहीं हो न, इस कारण ऐसा सोचती हो। महाराज मुझे अपना परिजन समझते हैं, अपना पुत्र मानते हैं।"

"किन्तु एक वासना सभी संबंधों को तहस-नहस कर देती है"—सोमदत्ता ने कहा—"हमें सोच-समझकर काम करना चाहिये। पाँसा पलटते क्या देरी लगती है ?"

स्वर्णचूला ने कहा—"हमारा व्यक्तिगत जीवन भी तो कुछ महत्ता रखता है। उसमें बाहरी हस्तक्षेप क्यों हो ? हाँ, राजा हैं तो राज करें, हमसे उनका क्या वास्ता" ?

बड़े समय तक तर्क-वितर्क चलते रहे, विरोध होता रहा। वत्स को इस सबमें कोई औचित्य प्रतीत नहीं हुआ। परिणामतः भोज का निश्चय हो ही गया। महाराज व अन्य गण्यमान्य जनों को न्यौता भेजा गया। वत्स ने स्वय भी अनुरोध किया। महाराज से जब आग्रह किया गया तो वे चकित रह गये कि आज आज का निमन्त्रण आज ही कैसे ! अचानक क्या प्रयोजन आ गया !! वत्स ने महाराज की आशंका निर्मूल की, और कहा कि यद्यपि

भोज का निश्चय भी आज प्रातः ही हुआ है, किन्तु सारी व्यवस्थाएं यथा-समय और राजोचित स्तर की ही होंगीं। उसने प्रयोजन को गोपनीय ही रखा। भोज के समय वह भी स्वतः ही प्रकट हो जायगा। कुतूहल निर्मित हो गया। महाराज ने अपनी सहमति प्रदान कर दी। महाराज और वत्स दोनों के मुख पर प्रसन्नता भरी मुस्कान थी।

संध्या के सुहाने प्रहरों में वत्स के प्रासाद में विशेष हलचल थी। राजा के आतिथ्य का गरिमामय प्रसंग जो था। दूसरे तल्ले के विशाल कक्ष में भोज की व्यवस्था थी। सीधी कतार में लगे चन्दन काष्ठ पट्टों पर लाल मखमली गद्दियाँ—प्रत्येक के समक्ष चाँदी की पीठिकाओं पर स्वर्ण-थाल व अन्य पात्र सजे। आमने-सामने ऐसी दो पंक्तियों में सामन्तगण, मंत्री एवं राज्याधिकारीगण आसीन थे। सामने, बीच में कुछ ऊँचाई पर महाराज विराजित थे। दासियों के दल अतिथियों के हाथ प्रक्षालित करा रहे थे। एक दासी रजत झारी से शुद्ध सुगंधित जल प्रवाहित करती अन्य जल एक त्रण का पात्र लिए थी, एक दासी हाथ पौंछने का वस्त्र लिये थी। ऐसे अनेक दल सक्रिय हो गये थे। महाराज की सेवा में विशिष्ट दल पहुँचा। तीनों सेविकाएं थीं""दासियाँ नहीं। वे तो गृहस्वामिनियाँ थीं। वेश-भूषा और अलंकार प्रसाधन ही नहीं, उनके व्यवहार से भी वे असाधारण लग रही थीं, संभ्रान्त और कुलीन। अपूर्व सौन्दर्य, अद्भुत माधुर्य, अपार आकर्षण। इन्हें सम्मुख पाकर मनोज्ञ नरेश का चित्त भी सहसा चंचल हो उठा। उनके बड़े-बड़े नेत्रों में रक्तिम डोरे उभर आये। इसी समय वत्स की वाणी ने महाराज के कल्पनालोक में हस्तक्षेप किया। "महाराज ! मैंने विवाह कर लिया है"" ये तीनों आपकी पुत्रवधुएं हैं"—कहते हुए उसने महाराज के चरणों को स्पर्श किया। महाराज अपने उस लोक से पूर्णतः बाहर नहीं आ पाये। उनका सीधा हाथ वत्स के मस्तक पर आशीष देने पहुँचा, अधरों ने अस्पष्ट उच्चारण किया और नयन इन सुन्दरियों के सिंगार पर, इनके कोमल यौवन पर ही केन्द्रित रहे। वधुएं सेवा सम्पन्न कर चली गयीं। रत्नचूला वस्त्र आगे बढ़ाये खड़ी थी, महाराज उसके नेत्रों में झाँकते हुए उसकी चुनरी से हाथ पोंछते रहे। महाराज को अद्भुत सा लगा—तीनों वधुओं को कुछ ही नहीं, बेहद अटपटा लगा। वत्स अब भी समीप ही खड़ा था। बड़ी देर बाद महाराज लौटकर अपने पास आये। सामान्य से होते-होते उन्होंने वत्स से पूछा—"वे सुन्दरियाँ कौन थीं ?" वत्स ने पुनः निवेदन किया। पूर्व में जब उसने

इनका परिचय दिया था, तब महाराज यहाँ थे ही कहाँ ! इस बार महाराज ने सुना अवश्य होगा, किन्तु उन्होंने कोई औपचारिकता नहीं की। कदाचित् वे किसी संबंध को मान्यता नहीं देना चाहते हों"""। इस असामान्य व्यवहार ने वत्स को भीतर से हिला दिया। उसके मन में प्रातः जिस अमंगल के बीज वधुओं ने बो दिये थे, वे सहसा विकसित होकर पल्लवित पुष्पित हो गये और उनकी गन्ध वह अनुभव करने लगा था। क्या यह तरु फलवान हो जायगा"""। सोचकर वत्स भीतर से काँप उठा। बाहर से वह सामान्य बना रहा। आवभगत, सत्कार, मधुर संभाषण सब कुछ चलता रहा।

अनेक प्रज्वलित दीप कोमल प्रकाश बिखेर रहे थे। अगरु धूम से वातावरण सुवासित था। व्यंजनों से धीमी-धीमी सुवास आकर अतिथियों का तन-मन पुलकित कर रही थी। सुस्वादु व्यंजनों से रसना की तृप्ति हो रही थी। भोज्य पदार्थों की महक ही सारे वातावरण को तृप्तिदायक बना देती थी। समस्त अतिथिगण आनन्दानुभव कर रहे थे। तत्पर सेवक दल आग्रह कर परोसते जा रहे थे। वत्स विशेष रूप से महाराज की सेवा की देख-रेख में लगा था। महाराज तो मात्र खाने की जैसे औपचारिकता निभा रहे थे। उनका तन और मन का साथ अभी निभ नहीं रहा था। मन कहीं अन्यत्र ही उड़ रहा था—ऐसा लगा था वत्स को। पात्रों की खनक से ही वे इधर-उधर ऐसे ताकने लगते थे—मानो उन्हें किसी की प्रतीक्षा थी। तभी बारी-बारी से सोमदत्ता, स्वर्णचूला और रत्नचूला पुनः आयीं। उन्होंने महाराज को व्यंजन परोसे। संकोचवश इनका आग्रह शब्दहीन रहा और महाराज किसी को भी न जाने क्यों 'न' नहीं कर सके। थाल में व्यंजनों का खासा जमघट लग गया। महाराज को ज्ञात ही नहीं था कि उन्हें क्या और कितना परोसा जा रहा है। वे तो विवश थे, मन के हाथों और उनकी दुर्बलता बढ़ती जा रही थी।

भोज समाप्त हो गया। महाराज जितशत्रु विदा हुए। प्रांगण में रथारूढ़ होते हुए ऊपर गवाक्षों की ओर झांका। उनकी दृष्टि निराश होकर लौटी। भारी मन से वे लौट गये। महाराज की ये असाधारण गतिविधियाँ न केवल वत्स की दृष्टि का लक्ष्य बनीं, इन्हें भली-भाँति पहचान लिया था मंत्रियों ने भी। वत्स महाराज की प्रवृत्ति से बचने का उपाय सोचने लगा। ये मंत्रीगण इससे लाभ उठाने की योजना गढ़ने लगे थे। मंत्रियों को वत्स की लोकप्रियता भाती नहीं थी। महाराज की दृष्टि में उसका उन्नत होना—

मंत्रियों के लिए घातक था। आत्मरक्षा के लिए वे वत्स का अमंगल चाहते थे और इसी दिशा में वे सचेष्ट रहा करते थे।

कुछ मंत्रीगण विदा होकर एक ही रथ में आरूढ़ हो जब राजभवन परिसर के बाहर पहुँचे तो महाराज के विषय में परस्पर चर्चा करने लगे। वे अत्यन्त उत्साहित थे। सोचते थे अब तो मैदान हमारे हो हाथ है। महाराज को वत्स की युवा पत्नियों के प्रति अनुरक्त पाकर वे प्रसन्न थे। अब वे महाराज को इन सुन्दरियों को अपने रनिवास में रखने को उत्साहित कर सकेंगे। उनका यह प्रयत्न वत्स की सारी शान किरकिरी कर देगा। उसका पानी उतर जायगा। महाराज और वत्स में वैमनस्य बढ़ता चलेगा—हमारा काम बनता चलेगा। मंत्रीगण यों अपना मनःलोक सज्जित करते चले जा रहे थे। इधर वत्स के प्रासाद में शिथिलता फैल गयी। वत्स जैसा सोचता वैसा कुछ हो नहीं पाया। महाराज चमत्कृत नहीं हो पाये। उन पर एक अन्य ही रंग चढ़ गया। वत्स निराश तो होता ही नहीं था; चिन्तित अवश्य हो गया। उसका मन महाराज की मनोवृत्ति के निराकरण का उपाय खोजने लगा। आज का कदम उसे अपने हित में नहीं लगा। रात्रि गहरी होती गयी और उसकी विचार शृंखला भी लम्बी होती चली गयी। वह अपने-आप में खोया रहा।

१५

महाराज जितशत्रु अन्यमनस्क रहने लगे। राज-काज में उनका चित्त नहीं रमता था। उनका अस्वस्थ मन अपना प्रभाव उनके मुख पर अंकित करने लगा था। वे निराश, उदास, हताश रहने लगे। यह जग उन्हें नीरस लगने लगा। राजसभा में भी वे कम ही जाते थे। जब कभी जाते भी, अल्प ही समय में उठ आते थे। एक अभाव, एक शून्य उनको भीतर-बाहर से घेरे हुए था। उन्हें एक ही कामना, एक ही अभिलाषा थी। कभी एक का रूप उनके समक्ष अद्‌भुत माया फैला जाता तो कभी दूसरी के हाव-भाव उन्हें मोहित करने लगते और तब कभी तीसरी के यौवन की अठखेलियाँ उनके मन को रसमग्न कर जातीं। उनके भीतर का यह काम-जगत विकसित होता जा रहा था और उसके बाह्य अस्तित्व रूपायित होने की कोई सम्भावना नहीं लगती थी। यह असम्भावना ही उनके दुःख की मूल थी। पूर्वराग ही उनके लिए वियोगाग्नि बिखेर रहा था और इन अंगारों के मध्य वे छटपटा रहे थे।

अपने नरेश की इस दशा में मंत्रीगण सन्तुष्ट थे। मन ही मन वे अपने हित में इसे एक शुभ चिह्न मानते थे। राजा की यह दशा मंत्रियों को अभिप्रेत ही थी। इससे ही उन्हें अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती थी। नरेश को इसी प्रकार वत्स का विरोधी बनाया जा सकता था। अपनी मनोदशा की गोपनीयता भी अत्यावश्यक मानते थे ये मंत्रिगण और इसके अनुरूप वे चिन्तित रहने का अच्छा अभिनय भी कर लेते थे।

एक प्रातः कुछ मन्त्री नरेश के पास पहुँचे। महाराजा उस समय भी शैया पर अधलेटे से बैठे थे। उनके मुख की सारी आभा अदृश्य हो गयी थी। एक आन्तरिक खिन्नता भी व्यक्त होती थी। राजवैद्य विदा होकर जा रहे थे। एक सेविका व्यजन डुला रही थी।

मन्त्री वचनसिद्ध ने महाराज के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए कहा—"आपकी यह दशा देखकर हम सभी बड़े चिन्तित हैं महाराज ! स्वयं आपके लिए और राज्य के लिए यह स्थिति भयंकर रूप से प्रतिकूल है। इसका शीघ्र निवारण अत्यावश्यक है महाराज !"

बात को आगे बढ़ाते हुए अन्य मन्त्री अचलबुद्धि ने कहा—"हाँ महाराज ! आपकी यह दशा देखी नहीं जाती। ऐसा पूर्व में तो कभी नहीं हुआ। इसके लिए क्या हम में से कोई उत्तरदायी है श्रीमान् ?"

महाराज ने बड़ी कठिनाई के साथ बोलते हुए कहा—नहीं····नहीं···· कोई मन्त्री उत्तरदायी नहीं है। यदि उत्तरदायी कोई है तो वह मेरा भाग्य ही है। मैं किसी को दोष नहीं देता····" कहते हुए महाराज का कुछ ऊपर उठा हुआ हाथ एकदम गिर सा पड़ा। उनकी गर्दन भी निढाल हो गयी। स्थिर दृष्टि से वे दीवार की ओर ताकने लगे। इसी समय मन्त्री कुशलमान ने कहा—"आप तो शूर-वीर हैं, पराक्रमी हैं। आप भाग्याश्रित न कभी रहे हैं महाराज, न कभी रह सकेंगे। हमें आप अपने मन की बात बताइये महाराज, सम्भव है हम समस्या के समाधान में सहायक हो सकें।"

महाराज के लिए हर बात उत्तर देने योग्य नहीं रहती। इस तथ्य से परिचित अचलबुद्धि ने कहा—"हाँ महाराज ! हाँ, समस्या की जड़ कहीं मन में ही छिपी है महाराज ! कृपा कर हमें बताइये, बात क्या है ?"

"तुम लोगों को बात बता भी जाय तब भी कोई लाभ नहीं होने वाला।" महाराज जितशत्रु ने अपनी निराशा को कुछ और भी गहराते हुए कहा और उस ओर करवट बदल ली। बोले—"यह समस्या किसी के हल किये भी हल नहीं हो सकती, मन्त्रियो ! नहीं हो सकती। मुझे मेरी नियति पर छोड़ दीजिए।"

"नहीं····महाराज, नहीं····आपको तो हमारी क्षमता, हमारी समर्थता पर सदा गर्व रहा है महाराज !" वचनसिद्ध ने कहा—"आज हमसे इतनी निराशा क्यों ? हम आपके हर अभाव की पूर्ति कर सकते हैं। आपको सुखी बनाने के लिए हमें यदि आकाश के तारे भी लाने पड़ें तो हम पीछे नहीं रहेंगे। आप बताइये तो हमें, आप क्या चाहते हैं ?"

तुरन्त ही अचलबुद्धि ने बात जोड़ी—"हाँ, महाराज ! हम आपके लिए कुछ भी कर सकते हैं, चाहे वत्सराज की वधुओं को रनिवास में लाने

का हो काम क्यों न हो ? हम पीछे नहीं रहेंगे। आपकी प्रसन्नता हमारे लिए सर्वोपरि है, श्रीमान् !"

वत्स-वधुओं की सहज चर्चा आ जाने पर भी महाराज अचंचल बने रहे, यद्यपि उनका मन उद्विग्न हो उठा था। कहने लगे—"अचलबुद्धि ! यह भ्रान्ति है तुम्हारी—वत्स तो मेरा पुत्र ही है....." एक क्षीण सी मुस्कान उनके अधरों पर फैली और उन्होंने थके स्वर में कहा—"मान लो यही मेरी कामना है, तब भी तुम क्या कर सकोगे ? मेरी समस्या से मुझे ही जूझना पड़ेगा। तुम लोग चिन्तित क्यों हो ?"

"चिन्तित कैसे न हों महाराज ! हम आपके सेवक हैं। कृपया हमें अपनी आन्तरिक पीड़ा बताइये"—कुशलमान के इस कथन के उत्तर में महाराज ने अपनी एक लम्बी सांस छोड़ते हुए कहा—"प्यारे मन्त्रियो ! तुम्हारा अनुमान सत्य है, मेरी समस्या आन्तरिक पीड़ा से जुड़ी हुई है। तुम्हारा यह विचार भी सही है कि पीड़ा किसी अभाव के कारण है। प्राप्ति से ही अभाव दूर होगा—यह भी सत्य है, किन्तु लोक मर्यादा मुझे यह कहती है कि मुझे उस प्राप्ति की कामना भी नहीं रखनी चाहिए, यह अनीति है और मेरे प्राण कहते हैं उस अभाव की पूर्ति के बिना हम नहीं रुकेंगे, चले जायेंगे। अब मैं किसकी बात मानूं, किसकी अनसुनी कर दूं.....कुछ समझ में नहीं आता.....कुछ भी समझ में नहीं आता....." कहते हुए महाराज ने दोनों हाथों से अपना मस्तक थाम लिया। वे चंचल और अत्यन्त विकल हो उठे।

महाराज को धैर्य दिलाते हुए वचनसिद्ध ने तर्क प्रस्तुत किया—"महाराज ! आपके लिए प्राणों की बात की महत्ता अधिक है। आपसे यह लोक और नीति है, लोक से आप नहीं।"

"हाँ महाराज ! आप सर्वोपरि हैं, सर्वोच्च सत्ता आप में निहित है। आपकी इच्छा ही नियम होती है। जो नियम है, उसमें अनीति कैसे हो सकती है महाराज !"—कुशलमान ने बात जड़ी और महाराज को भीतर से औचित्य का सहारा मिलने लगा। उन्होंने कहा—"प्यारे मंत्रियो ! समस्या ही यह है कि मेरे लिए वत्स तो पुत्रवत् है। मैं उसकी सुन्दरी वधुओं के बिना चाहे जीवित नहीं भी रह सकूं, किन्तु क्या उन्हें अपनाना मेरे लिए उपयुक्त होगा ?"

"क्यों महाराज.....क्यों ? इसमें अनुपयुक्तता क्या है ?" प्रश्नों के माध्यम से अपने मंतव्य को सफल बनाते हुए वचनसिद्ध ने कहा—"राज्य

की सर्वोत्तम वस्तुओं पर राजा का ही पहला अधिकार है। उसकी कृपा पर्यन्त ही वस्तु कहीं अन्यत्र, अन्यजन के पास रह सकती है। राजा जब चाहे उसे हस्तगत कर सकता है। इसमें कोई अनीति नहीं।"

"लोकनिन्दा तो है, इससे छुटकारा कैसे मिले ?"—महाराज ने अपनी चिन्ता व्यक्त कर दी।

"इसका भी उपाय है महाराज, उपाय है इसका" अचलबुद्धि ने नहले पर दहला मारा—"पहले वत्स को ही हटा दिया जाय। फिर अनाश्रित सुन्दरियों पर आप कृपा करें अपने रनिवास में आश्रय देकर अपना कर्त्तव्य निभा सकते हैं महाराज आप !"

वास्तव में अचलबुद्धि का परामर्श दहला सिद्ध हुआ। महाराज को योजना जँच गयी। उन्होंने उत्साहित होते हुए कहा—"क्या ऐसा हो सकेगा ? इस स्थिति में कोई अनीति नहीं रहेगी—लोक-निन्दा के स्थान पर लोक-स्तुति के ही पात्र हो जायेंगे हम। किन्तु ऐसा सम्भव कैसे होगा ?" महाराज ने चिन्ता प्रकट की, उत्साह कुछ कम हो गया।

वचनसिद्ध ने पुनः उत्साहित किया—"महाराज ! योजना की क्रियान्विति आप हम पर छोड़ दें। साँप भी मारा जायगा और लाठी भी नहीं टूटेगी।" महाराज अब उठ बैठे थे। थकान के लक्षण दुर्बल होने लगे। उनकी आंखों में एक तेज दमकने लगा। बोले—"तो जैसा उचित समझो करो किन्तु मर्यादा और प्रतिष्ठा का ध्यान रहे। अपयश से हम दूर रहें, यह आवश्यक है"—कहते हुए महाराज शैया त्यागकर खड़े हो गये। वचनसिद्ध ने कहा—"आप निश्चिन्त रहें महाराज ! हम सब कुछ सोच-समझकर ही करेंगे।" और तीनों मन्त्री झुककर प्रणाम कर विदा हो गये। महाराज जितशत्रु के मन में नयी उमंग क्रीड़ा करने लगी, उन्हें सारा वातावरण प्रफुल्ल, उल्लासमय लगने लगा।

१६

महाराज जितशत्रु अब आशावान, प्रफुल्ल, स्फूर्तिसम्पन्न लगने लगे थे। वे नियमानुसार राजकाज देखते, राजसभा भी होती। एक दिन राज-सभा का विशेष आयोजन मन्त्रियों के परामर्श पर किया गया। मन्त्रियों का उद्देश्य बलवान सिंह सामन्त और वत्सराज में वैमनस्य उत्पन्न कर देना था। वत्स वीर और धनुर्विद्या-कुशल तो था किन्तु सिंह सामन्त शारीरिक बल में उससे कहीं आगे थे। जब चलता तो लगता था मानो पर्वत चल रहा हो। इतना भरा-पूरा बलिष्ठ और ऊँचा देह कि अपार भीड़ में भी उसकी अलग पहचान बनी रहती थी। जिससे वह रुष्ट हो जाता था उसके जीवन के दिन पूर्ण हो जाते थे। सभी उससे भय खाते थे। कोई उससे विरोध का साहस नहीं करता था। मल्लविद्या में निपुण, कल और बल वह दोनों का स्वामी था। अपार शक्तिशाली था वह। मंत्रीगण सिंह सामंत को वत्स से भिड़ा देना चाहते थे। शेष कार्य तो स्वयंसिद्ध था।

सभा आरम्भ होने को थी। कुशलमान पहले ही सिंह सामंत के निवास पर चला गया था। मंत्री को अपने यहाँ आया देख, सामंत को कुछ गौरव अनुभव होने लगा। स्नेह-सम्मान के साथ उसने कुशलमान का सत्कार किया। सभा का समय हो रहा था। कुशलमान जानकर विलम्ब कराने लगा। इधर राजसभा में वचनसिद्ध मुख्य द्वार पर खड़ा वत्स के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। वत्स के आने पर मंत्री ने झुककर सादर प्रणाम किया। प्रत्युत्तर में वत्स ने भी हाथ जोड़ दिये—मुस्कुरा दिया। उसे आश्चर्य था कि आज यह आवभगत कैसी !! तभी मंत्री वचनसिद्ध ने बात जमाते हुए कहा—"श्रीमानजी ! महाराज ने मुझे विशेष रूप से आपका स्वागत करने हेतु यहाँ नियुक्त किया है। आपका मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ—महाराज ने आपको सिंह सामंत के स्थान पर बलाधिकृत घोषित

किया है। आइये, अपने नये स्थान पर विराजिये।" आगे-आगे वचनसिद्ध चलने लगा और पीछे-पीछे वत्स। सामंत के रिक्त सिंहासन की ओर दोनों हाथों से संकेत करते हुए मंत्री ने वत्स से कहा—"यहाँ विराजिये।" वत्स ने गौरव का अनुभव किया और आसन ग्रहण कर लिया। उसके मुखमंडल पर एक विशेष प्रकार के आह्लाद की आभा झलकने लगी।

महाराज का पदार्पण हुआ। सभा की कार्रवाई आरम्भ हुई। कुछ कालोपरान्त मंत्री कुशलमान और सिंह सामंत ने राजसभा में प्रवेश किया। दोनों ने प्रवेश करते ही झुककर महाराज को प्रणाम किया और अपने-अपने आसनों की ओर बढ़ गये। सामंत जब अपने आसन के समीप पहुँचा तो पाया कि उस पर वत्सराज बैठा है। उसके नेत्र अग्नि वर्षा करने लगे। समीप के सारे आसन भरे थे। यह अपमान उसे असह्य लगा। सभा की मर्यादा उसे रोष व्यक्त करने की अनुमति भी नहीं देती थी। वह लौटकर जाने लगा। तभी व्यंग करते हुए मंत्री वचनसिद्ध ने उसे टोका—"जाते कहाँ हैं सिंह सामंत जी, कभी पीछे के आसनों का भी आनन्द लीजिये।" वत्स के आसन की ओर संकेत करते हुए उसने कहा—"रिक्त है यह आसन, विराजिये। इस आनन्द का अवसर आज आपको वत्सराज जी ने दिया है। उनका उपकार मानिये और....।" रुका हुआ सिंह सामत पैर पटक कर आगे बढ़ा ही था कि अचलबुद्धि ने नमक छिड़कते हुए कहा, "आखिर वत्सराज भी हैं—उनके आसन में क्या कमी है? वीर तो वत्सराज भी अपने को कम नहीं मानते हैं आप से।" और एक ठहाका सारे सभा-भवन में गूँज गया। त्वरा के साथ सिंह सामंत भवन से बाहर निकल आया। उसका तन-मन प्रतिशोध की अग्नि में धधक रहा था। उसकी बाहुएँ फड़क रही थीं। उद्यान में वह एक वृक्ष के पीछे छिपकर बैठ गया।

मंत्रियों को अपनी चाल की सफलता का पूर्ण विश्वास हो गया। सिंह सामंत की अपार शक्ति के समक्ष वत्स की वीरता पानी ही भरती रह जायगी। आज निर्णय हो ही जायगा। सभा समाप्ति पर मंत्रीगण भी अपने विशेष मार्ग को छोड़ उद्यान की ओर आये। ज्योंही वत्सराज भवन से निकलकर उद्यान में पहुँचा सहसा ही सिंह सामंत उसके समक्ष प्रकट हो गया। रोष के मारे उसके नथुने फड़क रहे थे। भौंहें खिचकर कमान हो गयी थीं और नेत्रों से मानो ज्वालाएँ निकल रही थीं। इस प्रचण्ड रूप को देखकर वत्स आसन्न संकट की गम्भीरता को भलीभाँति पहचान गया

और समस्त साहस संकलित कर सिंह सामंत को ललकारा—"मेरा मार्ग छोड़ दो।"

क्रुद्ध सिंह सामंत ने उत्तर में कहा—"तेरा मार्ग तो अब यमलोक को जा रहा है। तेरा कोई भी हितैषी तेरा वह मार्ग नहीं रोक सकता।"

"तुम तो निरे वाचाल निकले सामंत! सुनता था कि तुम बड़े बलवान हो—क्या वह....." वत्स अपना कथन पूरा भी नहीं कर पाया कि सिंह सामंत ने झपटकर वत्स की गर्दन को कसकर पकड़ लिया। वह उसे गिराना ही चाहता था कि वत्स ने झुककर अपनी गर्दन मुक्त करा ली। वह संभलता—संभलता, तब तक सामंत की बलिष्ठ भुजाएँ वत्स की कमर से लिपट गयीं। तनिक झुककर सामंत उसे भूलुंठित कर देना चाहता था, किन्तु वत्स के पैर तो अंगद के पैर हो गये थे। उन्हें भूमि से छुड़ाना सामंत के लिए सम्भव नहीं हुआ। वह अपनी सारी शक्ति लगाकर हाँफ उठा था। तभी पीछे फिसलकर वत्स ने अपनी कमर छुड़ा ली। चीते की सी त्वरा के साथ लपककर उसने अपनी एक बाँह का वार पीछे से घुटनों पर किया और दूसरी बाँह को गर्दन के नीचे लेकर उसने सामंत को अपनी दोनों बाहों पर ऊपर उठा लिया। भूमि छूटते ही सामंत निरुपाय हो गया। उसकी शक्ति निस्तेज हो गयी। वह हाथ-पैर मारकर छूट जाना चाहता था कि इसी बीच वत्स ने उसे अपनी दोनों भुजाओं पर अपने सिर से ऊपर उठा लिया। असहाय सिंह सामंत व्यर्थ ही हाथ-पैर उछालता रहा। वत्स ने उसे उठाये सारे उद्यान का एक चक्कर दौड़ कर लगा लिया और तब खुले मैदान में उसे ऊँचा आकाश में उछाल दिया। जब वह भूमि पर गिरा तो उसकी आँखें बाहर निकल आयी थीं। मुँह से ढेर सारा रक्त निकल गया और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। वह शांत-निश्चल पड़ा था।

विजय गर्व से जब उसने चारों ओर देखा, तो उसे उद्यान में कोई दिखायी ही नहीं दिया। प्रचण्ड संघर्ष से भयभीत होकर सब वहाँ से कभी के विदा हो गये थे। महाराज और मंत्री अब भी उसके भले बने हुए थे। वत्स को आश्चर्य था कि उसने यह पराक्रम कैसे कर दिखाया! इतना बल कैसे उसमें आ गया!! मल्ल युद्ध का उसके लिए यह पहला ही प्रसंग था। वह सच्चे वीरों की भाँति शीघ्र ही सामान्य हो गया और अपने प्रासाद को लौट गया।

वत्स की कुशलता से उसकी वधुओं को कोई अचरज नहीं हुआ—यह उनके लिए तो प्रत्याशित ही था। पत्नियों से उसे ज्ञात हुआ कि उन्होंने उसकी रक्षा के लिए अश्वयक्ष को नियुक्त कर दिया था। परोक्ष रूप में उसी का बल सक्रिय हो गया था। यह प्रसंग तो समाप्त हो गया, किन्तु यह वत्स की आँखें खोल गया। उसे आसन्न भविष्य और अधिक संकटमय प्रतीत होने लगा। पत्नियों ने भी उसे सचेत कर दिया था कि नरेश उसके प्राणों का ग्राहक बना बैठा है। सोच-विचार कर वत्स ने पलायन के स्थान पर संकटों से जूझने का मार्ग ही श्रेयस्कर समझा।

⁂

१७

मन्त्रियों को मुँह की खानी पड़ी, फिर भी उनका हौसला हारे हुए जुआरियों की भांति बढ़ता गया। एक दांव नहीं लग पाया – इसका अर्थ पराजय नहीं है। अन्तिम विजय हमारी होगी, हमारी····। इस धारणा के अधीन सभी मंत्रीगण नयी-नयी चालें सोचने लगे। वचनसिद्ध कुछ अधिक ही सक्रिय था। उसने जो युक्ति सोची थी, वह सभी को सफलतादायक लगी। हत-प्रयोजन मन्त्रियों के उपस्थित होने पर महाराज जितशत्रु ने कुछ निराशा के स्वर में कहा – "तुम लोग वत्सराज से पार नहीं पा सकोगे। अवश्य ही तुम कोई योजना लेकर आये हो—क्या भरोसा कि वह सफल हो ही जायगी ?" कुछ रुककर महाराज ने आगे कहा – "तुम लोगों की पहली चाल व्यर्थ हो गयी। उसका दोहरा लाभ उसी वत्स को मिला, जिसे नष्ट करना उस चाल का उद्देश्य था। अब उसे महाबलाधिकृत का पद मुझे देना ही पड़ेगा। उसे यह गौरव मिल गया, उधर सिंह सामन्त को पछाड़ने का यश भी उसे प्राप्त हुआ। हमें क्या मिला ···?" कहते हुए महाराज हाथ मलने लगे।

अचलबुद्धि ने कुमंत्रणा का क्रम जारी रखते हुए कहा—"महाराज की जय हो····सदा विजय हो। एक बार इस मार्ग पर अग्रसर हो जाने पर अब पीछे हटना सम्भव नहीं है। यह यात्रा तो वत्स के महाविनाश के साथ ही विराम लेगी। बीच में कोई पड़ाव भी नहीं मिलेगा।"

"····किन्तु हम वत्स का विनाश नहीं चाहते····नहीं चाहते हैं हम यह अधम कृत्य"—महाराज ने विचलित होकर ज्योंही यह कहा, कुशलमान ने उन्हें उत्तेजित करते हुए कहा—"महाराज यह हमें पहले सोचना था। पुन-विचार के लिए अब कोई अवसर नहीं रहा।" गरम लोहे पर चोट करते हुए तभी वचनसिद्ध बोल पड़ा—"महाराजश्री ! उन सुन्दरियों की प्राप्ति की

कामना अभी आपके हृदय में ठण्डी नहीं हुई होगी। हम तो आपके हित की ही बात कर रहे हैं।" विवश महाराज के सामने आकांक्षित विषय ज्योंही प्रस्तुत हुआ वे दुर्बल हो गये—भूल गये वे कि वत्स भी उनका अपना है। चिन्तनलीनता के स्वर में बोले—"हूँ""तो हमें करना क्या होगा ?"

वचनसिद्ध ने कमान सँभालते हुए कहा—"आपको कुछ नहीं करना है श्रीमान् ! आपको तो रोगी का अभिनय मात्र करना है। उपचार के लिए सिंहनी के दूध की मांग करनी होगी""बस। बाकी हम कर लेंगे।"

तभी सेवक ने आकर सूचना दी कि वत्सराज उपस्थित होने की अनुमति चाहते हैं। महाराज के यह पूछने पर कि, "यहाँ यह अभी कैसे ?"—वचनसिद्ध ने बताया कि हमने आपकी ओर से उसे सन्देश भेजा था। आपकी रुग्णता की सूचना भी भेजी थी। उसे बुलाना होगा, किन्तु उसके पूर्व ही नाटक आरम्भ हो जाय—यह अनिवार्य है। हम भी जाते हैं। उपयुक्त दृश्य में हम भी मंच पर प्रवेश कर लेंगे।"—यह कहते हुए वचनसिद्ध अपने दोनों साथियों के साथ वहाँ से चला गया। द्वार पर सेवक को सन्देश भिजवा दिया गया कि वत्सराज को महाराज की सेवा में भेजा जाय।

महाराज शैया पर निढाल पड़े थे। कटि तक चादर से लिपटे। केश राशि अस्तव्यस्त, आँखें अधखुली, मुख अनायास ही खुला हुआ। उपस्थित होकर वत्स ने नमनपूर्वक जयघोष किया—"महाराज की जय हो ! सेवक को कैसे स्मरण किया ? क्या आज्ञा है, प्रभो !"

"अरे, आओ, आओ वत्स आओ। एक विशेष प्रयोजन से तुम्हें बुलाया है। पहले तो मैं तुम्हें बधाई देता हूँ; अभिनन्दन करता हूँ तुम्हारा। अजेय सिंह सामन्त के बल-विक्रम का पराभव जिस प्रकार तुम्हारे हाथों हुआ—वह अचरज का नहीं, तुम्हारी प्रशंसा का विषय है। तुमने अपने वंश को विमल यश से विभूषित कर दिया है वत्स, तुम धन्य हो""धन्य है वह जननी जिसने तुम जैसे वीर पुत्र को जन्म दिया।"

"महाराज की जय हो""आपका कथन अक्षरशः सत्य है।" वचनसिद्ध ने प्रवेश कर प्रसन्नतापूर्वक निवेदन किया। वत्सराज पर आज समस्त मालव राष्ट्र को गर्व है। हमारे पास शब्द नहीं हैं, जो वत्सराज के गौरव का बखान कर सकें। हम इनके मंगल की कामना करते हैं, प्रभो !" अबलबुद्धि और कुशलमान ने भी स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा—"आपका भविष्य मंगलमय हो—वत्सराज !"

एक क्षण के मौन के पश्चात् महाराज ने वत्स को पुनः सम्बोधित करते हुए कहा—"हमने तुम्हें महाबलाधिकृत घोषित किया और उसके पश्चात् प्रथम पराक्रम ही तुम्हारा अति भव्य रहा। हम तुम्हें इस पद पर स्थायी करते हैं। हमें विश्वास है तुम उज्जयिनी को गौरव ही प्रदान करते रहोगे।" महाराज के पास इस घोषणा के अतिरिक्त कोई चारा भी नहीं था। पर इसे सुनकर उपस्थित मन्त्रियों के मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। वत्स तो उनके समकक्ष हो गया। जो नाटक पहली चाल में उन्होंने किया, महाराज ने उसे सत्य में परिणत कर दिया। उनके कलेजे पर सांप लोटने लगे। अपनी ईर्ष्या को छिपाते हुए तीनों मन्त्री सोचते थे कि अब यदि हमने वत्स का विनाश नहीं किया तो हम नष्ट हो जायेंगे। आत्मरक्षा के प्रयत्न में हम जो कुछ करें, वह कम ही है।

अपने मनोभावों को छिपाते हुए वचनसिद्ध ने अत्यन्त संवेदना के साथ निवेदन किया कि "महाराज का यह नया रोग अति भयंकर और दारुण है। इसकी एक ही औषधि वैद्यराज ने बतायी है महाराज; किन्तु वह दुर्लभ पदार्थ है महाराज!"

"ऐसी दुर्लभ भी नहीं है महाराज"—अचलबुद्धि ने बात को अग्रसर किया और कहा—"यदि कोई परम साहसी शूर-वीर निश्चय कर ले तो वह औषधि प्राप्त हो भी सकती है। हाँ, प्राणों का संकट तो अवश्य उस वीर के लिए बना रहेगा।"

"किन्तु विधाता की करुणा अपार है महाराज!"—कुशलमान ने तुरुप जड़ते हुए कहा—"उसने ऐसा दारुण रोग दिया है तो आपको अपार साहसी और शूरवीर सहायक भी तो प्रदान किये हैं—चिन्ता किस बात की है।"

"मन्त्री कुशलमान का संकेत—वत्सराज की ओर है प्रभो! यदि वे चाहें तो औषधि मिल सकती है। हाँ कार्य तनिक दुष्कर अवश्य है, महाराज! यदि वत्सराज चाहें तो सिंहनी का दूध ला सकते हैं। इसके बिना···· क्षमा करें प्रभो—आपका जीवन बचाना कठिन है। दूध भी शीघ्र ही अपेक्षित है। एक सप्ताह में नहीं मिला तो फिर यह औषधि भी कारगर नहीं रहेगी।"

अब बारी वत्सराज की थी। आत्मविश्वास की असीमता के साथ वह बोला—"प्रभो, यह सेवा मैं करूँगा। दो ही दिनों के भीतर सिंहनी का दूध उपलब्ध करा दूंगा। आप निश्चिन्त रहें!"

"धन्य हो वत्सराज, धन्य हो !! तुम जैसे धर्मधारियों के बल पर ही धर्म टिका हुआ है।" अचलबुद्धि ने कहा, यह सोचते हुए कि इसके सिंहनी का आहार होने में अब कोई कमी है ही नहीं। और—"यह तो मेरे लिए सुगम कार्य है कोई और भयानक कार्य भी होता तो महाराज के लिए मैं उसे भी स्वीकार करता"—वत्स ने उत्तर में कहा, यह सोचते हुए कि स्वर्णचूला और रत्नचूला हैं, अश्वयक्ष और पर्यंक है—कोई तो सहायक होगा ही। महाराज ने वत्स का अग्रिम आभार माना और उसे विदा किया।

जीवन संगिनियाँ वत्स की अनुपस्थिति में कुछ चिन्तित रहा करती थीं। उन्हें आभास हो गया था कि कुछ लोग वत्स का अमंगल-चिन्तन करते हैं। जब वत्स पहुँचा तो उसकी तीनों पत्नियाँ उसे घेर कर बैठ गयीं और लगीं प्रश्नों की बौछार करने। वे तत्काल सारा वृत्तांत जान लेना चाहती थीं। उसने किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। बस यही रट लगाता रहा—"दूध चाहिये—शेरनी का; शेरनी का दूध।" बड़ी कठिनाई से इन्हें सारी बात क्रम-क्रम से ज्ञात हो सकी। वत्स के लिए अब प्रतिष्ठा का प्रश्न हो गया था—पत्नियाँ इस मर्म से भली प्रकार परिचित थीं। सोमदत्ता ने यद्यपि कहा कि नित नये बखेड़े में आप क्यों पड़ते हैं ? किन्तु स्वर्णचूला ने उसे शान्त कर दिया कहा—"ये महाराज के सेवक हैं। इनके लिए स्वामी की सेवा भी एक धर्म है। जब स्वामी के प्राणों की रक्षा का प्रश्न हो तो भला ये पीछे कैसे हट सकते हैं ? सिंहनी का दूध कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है। बिना किसी संकट के इन्हें वह सुलभ हो जायगा—चिन्ता की कोई बात नहीं है।" स्वर्णचूला के इस कथन से सोमदत्ता को कितनी निश्चिन्तता हुई—कहा नहीं जा सकता, किन्तु वत्सराज बहुत आश्वस्त हुआ। उसे तो तिनके का नहीं, नौका का सहारा मिल गया था।

स्वर्णचूला ने सविस्तार वत्सराज को सारी बात बतायी। नभचारी पर्यंक से वह निर्दिष्ट वन में पहुँचा और अपनी सास की सखी देवी को लेकर अपने प्रासाद के उद्यान में ही पिछली रात को उतर गया। आज ही उसे सिंहनी का दूध प्रस्तुत करना था। देवी को बाहर उद्यान में छोड़कर वह स्वर्णचूला के पास आया। लौटकर जब वह उद्यान में गया तो देवी कहीं दिखायी नहीं दी हाँ एक उन्मुक्त सिंहनी विचरण कर रही थी। बड़ा भयानक दृश्य था एक लम्बी सिंहनी—केशरियाँ रंग, काली लकीरें, चँवर डुलाती सी लम्बी पूँछ, पैने दाँत, पतली सी कमर और विचित्र चंचलता। प्रमत्त

सिंहनी उद्यान में बे-रोकटोक टहल रही थी। दहाड़ ऐसी कि सारा राज-प्रासाद परिसर हिल उठा। दहाड़ सुनकर सब भयभीत हो गये। यह समाचार फैलते भी विलम्ब नहीं हुआ कि वत्स के उद्यान में खुली सिंहनी विचरण कर रही है। मंत्रियों के तो छक्के ही छूट गये। वचनसिद्ध के पाँवों तले की धरती ही खिसक गयी। नरेश चिन्ता में पड़ गये कि विधाता को न जाने क्या स्वीकार्य है।

राजसभा का समय समीप आया। समयोचित वस्त्र धारण कर वत्स उद्यान में आया और संकेत से सिंहनी को अपने पास बुलाया। उसके मस्तक और गर्दन पर हाथ फिराया, पीठ थपथपायी और पूँछ सहलाकर उसे पुचकारा। सिंहनी वत्स के स्नेह को पाकर उसके वशीभूत हो गयी। उसके पैर सूँघने लगी और उसकी एक परिक्रमा लगायी और शान्त खड़ी हो गयी। "चलो रानी, चलो, अब राजसभा में चलते हैं"—कहकर वत्स ने आगे बढ़ने का संकेत कर दिया और स्वयं भी चल दिया। सिंहनी पीछे-पीछे हो ली। वत्स के आगे-पीछे, दायें-बायें उछलती-कूदती सिंहनी भी चली जा रही थी। सारा मार्ग सूना हो गया था। राजसभा के बाहर उद्यान में पहुँचकर सिंहनी ने एक जोर की दहाड़ लगायी। सभा में खलबली मच गयी। महाराज भी विचलित हो गये। यह क्या""क्या वत्स सिंहनी को यों खुली ही अपने साथ यहाँ ले आया है। हमने तो केवल दूध मँगवाया था। सोचते-सोचते महाराज सिहर उठे। कह तो कुछ भी नहीं सके, पर चिंतन कर रहे थे कि सिंहनी को राजसभा में नहीं लाया जाय, यही उत्तम है। उसी समय सिंहनी की गर्जना से सभा-भवन गूँज उठा। सभासद अपने-अपने आसनों में दुबक गये। बाहर जाने का रास्ता तो सिंहनी ने रोक रखा था। भय-कंपित सभासदों ने देखा कि तभी निर्भीक सिंह की सी चाल के साथ बढ़ता हुआ वत्सराज आ रहा था और उसके पीछे सिंहनी चली आ रही थी—मुँह को ऊपर-नीचे डुलाती हुई पूँछ को छत्र के समान शीष पर फैलाए। "महाराज की जय हो"—कहकर वत्स ने प्रणाम किया। सिंहनी ने आगे बढ़कर महाराज के चरण सूँघ कर वन्दना की। भयभीत महाराज ने पैर सिंहासन पर खींच लिये और भीतर तक धँस गये। काँपते स्वर में बोले—"वत्स""वत्स, तुमने यह क्या किया! क्यों तमाशा कर रहे हो? सिंहनी को सभा में क्यों ले आये। बुली सिंहनी कुछ भी कर सकती है, अनर्थ हो सकता है। ले जाओ इसे""यहाँ से ले जाओ।"

"चली जायगी महाराज, सिंहनी यहाँ रहने के लिए नहीं आयी है।

पहले मैं अपना वचन तो पूरा कर लूं।" कहते हुए वत्स ने सिंहनी के शीष पर कोमलता के साथ हाथ फिराया। स्नेहाधीन सिंहनी आगे के पैर मोड़ कर वत्स के सामने झुक गयी।

"लेकिन वत्स तुम्हें शेरनी का दूध लाने को कहा गया था शेरनी लाने को नहीं'''तुम इसे क्यों''''" मंत्री वचनसिद्ध ने क्रुद्ध होकर कहा। बड़ी-बड़ी आँखों से घूरते हुए उसने सिंहनी की ओर हाथ उठाकर संकेत किया और बोला—"ले जाओ इसे बाहर ले जाओ और''''" वह अपनी बात भी पूर्ण नहीं कर पाया था कि उछलकर सिंहनी ने वचनसिद्ध पर आक्रमण कर दिया। उसका कण्ठ सिंहनी के जबड़ों में दबा था। रक्त की धारा बह चली। देखते ही देखते मंत्री वचनसिद्ध की मृत देह भूमि पर लम्बी हो गयी। सारी सभा में आतंक छा गया। राजदरबारी थर-थर काँपते रहे—उनको पसीने छूटते रहे। भय के मारे घिग्घी बँध गयी—उनके कण्ठ से कोई शब्द नहीं फूटता था। नरेश को उनके भीतर से किसी ने पुकारकर कहा—छल-छद्म का फल ऐसा ही होता है। वचनसिद्ध को उसकी करनी का परिणाम मिल गया। अब तुझे भी सन्मार्ग पर आ जाना चाहिये। महाराज ने इस कथन की अनसुनी कर दी। सिंहनी के दाँतों को रक्त लग चुका था। वह बिफर कर उत्पात मचाने लगी। पुचकार कर वत्स ने उसे अपने पास बुलाया। पूँछ हिलाती वह उसके पास लौट आयी। उसकी पीठ थपथपाते हुए वत्स ने महाराज से निवेदन किया—"श्रीमान! इसे यहाँ लाने के पीछे एक प्रयोजन रहा है मेरा। आपके—सभी के सामने सिंहनी को दूह कर मैं दिखा देना चाहता हूँ कि मुझमें साहसहीनता नहीं है। यदि मैं दूध लेकर आता तो कौन मुझ पर भरोसा करता? कौन मानता कि यह सिंहनी का दूध है?"—यह कहते हुए उसने सिंहनी को दूहा, दुग्ध-पात्र महाराज को भेंट कर दिया। काँपते हाथों से महाराज ने पात्र ग्रहण किया। तभी सिंहनी को दहाड़ और सुनायी दी। वह मंत्री अचलबुद्धि की ओर लपक चुकी थी। मंत्री का आसन एक स्तंभ के समीप था। प्राण बचाने को वह स्तंभ के ऊपर चढ़ गया था। सिंहनी ऊपर को लपकने को ही थी कि सहसा वत्स का शब्द-संकेत पाकर वह उसके समीप चली आयी। अचलबुद्धि के प्राणों की रक्षा हो गयी, किन्तु अब भी वह सूखे पत्ते की भाँति थर-थर काँप रहा था। नीचे उतर आने का साहस वह नहीं बटोर पा रहा था। महाराज से अनुमति लेकर वत्स लौट गया। उसके साथ-साथ सिंहनी भी चली जा रही थी। त्रस्त दरबारियों को कुछ शान्ति मिली। महाराज विचार चक्र में ग्रस्त हो गये। ✱

१८

कुछ दिन बीते और सिंहनी के उत्पात का प्रसंग आया-गया हो गया। महाराज के मन की कसक और तीव्र हो गयी। कामिनियों की कामना उनके मन में तीव्रतर हो गयी थी। इस उन्माद में वह अपने भीतर की, अन्तरात्मा की आवाज को भी नहीं सुन रहे थे। अचलबुद्धि की उस दिन राजसभा में जो गत बनी थी—उस अपमान को वह भुला नहीं पा रहा था। उसके मन में वत्सराज के लिए प्रतिशोध का भाव तीव्रतर होता चला जा रहा था। वह नया जाल बुनने में व्यस्त हो गया। महाराज की प्रेरणा उसे मिल ही रही थी। कुशलमान का सहारा भी पक्का था। एक नया प्रकरण चल पड़ा।

आज फिर महाराज जितशत्रु की राजसभा खचाखच भरी हुई थी। सभा मध्य एक पीठिका पर बहुरंगी-चित्रित कलश रखा हुआ था। एक अद्‌भुत उत्सुकता सब-जन में सक्रिय थी। सभी जानने को व्यग्र थे कि अन्ततः होता कैसा है यह सवाक् जल (बोलता पानी)। वत्सराज महाराज के निर्देश पर यह सवाक् जल विंध्य पर्वतों के दुर्गम क्षेत्र से लेकर आया था। सभी ओर कुतूहल भरा कोलाहाल था। सहसा वातावरण में स्तब्धता आयी। किसी भी ओर से कोई ध्वनि नहीं। महाराज के पदार्पण पर सभी अपने-अपने स्थान पर सिर झुकाए खड़े हो गये। महाराज के आसन ग्रहण कर लेने पर सभी अपने-अपने आसनों पर आसीन हो गये।

"महाराज की जय हो!" वत्सराज ने अपने स्थान पर ही खड़े होकर निवेदन किया—"श्रीमान की आज्ञानुसार मैं दुर्गम पहाड़ों से यह सवाक् जल लेकर उपस्थित हो गया हूँ। आदेश हो तो सेवा में प्रेषित करूँ।"

महाराज ने हौले से अपना शीष सकारात्मक आशय के साथ

हिलाया। वत्स आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ा और कलश के समीप पहुँचा। सब टकटकी साधे कलश की ओर ताक रहे थे। स्फूर्ति के साथ वत्स ने कलश का ढक्कन हटाया और उसके भीतर से गम्भीर वाणी निकलने लगी—

"मैं सवाक् जल हूँ""हाँ मैं ही बोलता पानी हूँ। मुझे यहाँ क्यों लाया गया ? राजा ! मैं तुम्हारे राज्य में नहीं रहता, प्रजा नहीं हूँ मैं तुम्हारी। तुमने क्यों आदेश दिया कि मुझे कलश में बन्दी बनाकर यहाँ लाया जाय ?" इतनी शब्दावली के बाद कलश से उच्च अट्टहास का स्वर आने लगा—ऐसा प्रचण्ड अट्टहास कि जिसे सुनकर लोगों के प्राण काँप उठे।

कुछ क्षणोपरान्त सवाक् जल ने पुनः अपना कथन आरम्भ किया—"नरेश ! तुम मेरे अपराधी हो। अपराधी यहाँ उपस्थित सभी जन हैं जो मेरी इस बन्दीदशा पर मेरा उपहास करने को एकत्र हुए हैं। यह नवयुवक वत्स मुझे बन्दी बनाकर लाया है। इसमें इसका कोई दोष भी नहीं। दोषी इसे आदेश देने वाला है। वत्स ने तो मुझ पर बड़ा उपकार किया है। मैं कृतज्ञ हूँ कि वह मुझे ऐसे जनबहुल स्थान पर ले आया। इतने सारे लोगों को देखकर मैं बड़ा प्रसन्न हूँ""।" कलश से फिर तीव्र अट्टहास उभरा। "विंध्यक्षेत्र में वर्षों से कोई नहीं आया। न जाने कब से मैं भूखा हूँ। किसे खाकर भूख शांत करता—कोई मनुष्य दिखायी ही नहीं दिया। अच्छा किया कि मैंने इसे खाने की मूर्खता नहीं की। इसने भी अपना वचन निभाया, इतने लोगों के मध्य ले आया मुझे। अब मुझे पेट भर ही नहीं जी-भर आहार मिलेगा। आज का शुभ दिन वर्षों बाद आया है। बोलो पहले किसे आहार बनाऊँ मैं अपना ? क्यों न राजा, मंत्रीगण""और इसी क्रम से भक्षण करता चलूँ।" कुछ क्षणों के लिए वाणी रुकी। जल प्रवाह सा छल-छल कल-कल का शब्द होने लगा। लोगों ने देखा कलश में जल-स्तर ऊपर उठने लगा था। भय था कि यह बाहर निकलकर सभी को निगल न जाय। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी। अचलबुद्धि विशेष रूप से संत्रस्त था। उसी ने महाराज को सवाक् जल की योजना बतायी थी। चाहता तो वह यह था कि बोलता पानी वत्स को देखकर तुरन्त निगल जायगा, किन्तु पांसा फिर पलट गया था। उलटे उसी के प्राणों की आ पड़ी थी। महाराज ने भयभीत स्वर में वत्स से अनुरोध किया कि जल को

वह रोक ले। वे बुरी तरह से काँप रहे थे। सवाक् जल उनसे विशेष रूप से रुष्ट था—यह तथ्य वे भली भाँति समझ ही गये थे। उन्होंने फिर जल को रोकने के लिए वत्स को कहा। सवाक् जल कलश के मुख्य तक आ गया था। फेन ऊपर उछलने भी लगे थे। तभी त्वरा के साथ वत्स ने ढक्कन लगा दिया। जल क्रमशः नीचे उतर गया। सभी ने सुख की साँस ली। भाल पर छलछला आये स्वेद कणों को महाराज ने पोंछा और तत्काल सभा स्थगित कर दी गयी। उपस्थितजन जान बचा कर भागे। अचलबुद्धि और कुशलमान तो ऐसे लुप्त हो गये मानो खरगोश के सिर से सींग। इस बार भी मंत्रियों को लोहे के चने चबाने पड़े।

महाराज ने आरम्भ में जब सवाक् जल लाने का अनुरोध किया था, तत्परता के साथ उसे वत्सराज ने स्वीकार कर लिया था। रत्नचूला ने वत्स को अमुकवन का पता बताते हुए कहा था कि वहाँ उसके पिता के मित्र एक देव रहते हैं। वे सहायता करेंगे। अश्वयक्ष तत्काल वत्स को देव के पास ले गया। देव ने वत्स की आवभगत की। देव उसे सरोवर पर ले गया और बताया कि मैं इस जल में डुबकी लगाऊँगा। तुम उसी स्थल से अपना कलश भर लेना। देव इस प्रकार जल में मिश्रित होकर कलश में आ गया और वही सवाक् जल की भूमिका निभाता रहा।

१९

आज फिर राजसभा खचाखच भरी थी। कोई आसन रिक्त नहीं था। महाराज आज विशेष चिन्तन की मुद्रा में खोये-खोये से बैठे थे। "महाराज की जय हो।"—एक सामन्त ने पूछा—"श्रीमान! आज आप खिन्न और उदास प्रतीत होते हैं। क्या कारण है महाराज? हमारे होते हुए आप समस्याओं से ग्रस्त रहें—हमारे लिए यह लज्जाजनक है। कृपा कर समस्या बताइये। हम प्राण पण से प्रयत्न करेंगे।"

महाराज तो मौन ही बने रहे—मंत्री कुशलमान अपने आसन से उठा और घोषणा के स्वर में बोला—मान्यवर सामन्तजन एवं सभी सभ्य जन! आप सब जानकर प्रसन्न होंगे कि राजकुमारी श्रीदेवी जी का पाणि-ग्रहण महोत्सव निश्चित हो गया है। देश-देश के राजा-महाराजाओं को आमन्त्रित किया जा रहा है। समस्या यह है कि यमराज जी महाराज के अन्तरंग और स्नेही मित्र हैं। निमन्त्रण पत्र यमराजजी को भी प्रेषित किया जाना है। कोई संदेशवाहक चाहिये जो यमलोक जाकर यह कार्य सम्पन्न कर दे।" कुछ क्षणों के मौन के पश्चात मंत्री पुनः मुखरित हुआ—"महाराज की यह सेवा कौन कर सकता है? महाराज चाहते हैं कि आपमें से कोई स्वेच्छा से आगे आएँ।" सारी सभा में सन्नाटा छा गया। यमलोक की यात्रा तो मरण की अनुगामिनी होती है। स्वेच्छा से आत्ममरण का वरण कौन करता? कोई हिला तक नहीं, सभी मूर्तिवत बैठे रहे। केवल आँखों की पुतलियों को नचा कर ताड़ते रहे कि किस ओर से कोई हलचल होती है। हलचल को न होना था, सो नहीं हुई।

मंत्री कुशलमान ने फिर कहा—शूरवीरों की इस विशाल सभा में क्या एक भी साहसी नहीं जो महाराज की यह सेवा कर दे। फिर महाराज के नमक का ऋण कैसे चुकाएँगे आप? क्या एक भी साहसी....."

बीच ही में अन्य मंत्री अचलबुद्धि ने बात को बल देते हुए कहा—'क्षमा कीजिये, जिस सभा में वत्सराज उपस्थित हों, उसमें ऐसे कथन का कोई औचित्य नहीं रह जाता। आज सम्पूर्ण राज्य में वत्सराज के शौर्य का कोई अन्य जोड़ नहीं है। उनके होते हुए महाराज को निराश होना पड़े···· यह सम्भव नहीं है।"

अचलबुद्धि को दृष्टि विक्षेप से ही सम्बोधित करते हुए फिर कुशलमान ने कहा—"बात तो आपकी उचित ही है मंत्री जी, किन्तु प्रतीत होता है पराक्रम दिखाते-दिखाते अब वत्सराजजी भी थक गये हैं, चुक गये हैं। अब उनमें साहस शेष नहीं रहा।"

"ऐसा कहना ठीक नहीं है, मंत्रीजी! सच्चे शूरमा कभी निस्तेज नही होते।" कुशलमान ने कहा—"आप वत्सराज को अवसर तो दीजिये। वे वीर पिता के वीर पुत्र हैं और अनुपम शौर्य व शक्ति के धनी हैं।"

वत्स अब तक चुपचाप बैठा था, उसका बाह्य शांत प्रतीत होता था, किन्तु भीतर उथल-पुथल मची थी। एक-एक वाक्य उसके उफान को प्रबल बना रहा था। आकंठ उत्साहित होकर उसने आसन त्यागा और सभा के मध्य, नरेश के समक्ष आ खड़ा हुआ। "महाराज की जय हो····सदा विजय हो !! मैं इस सेवा के लिए तत्पर हूँ। यमराज जी को मैं आपका निमंत्रण भी प्रेषित करूँगा और उनका सन्देश भी लौटकर आपकी सेवा में प्रस्तुत कर दूँगा। आप विश्वास कीजिये—इसमें कोई कोर-कसर नहीं रह जायगी।"

सभा भवन हर्ष-ध्वनि से गूंज उठा। सभी इस वीर के साहस की प्रशंसा कर रहे थे। कोई तो इसे इसका अति साहस बताकर चिन्तित भी हो रहे थे—उसके कुशल की सम्भावना न पाकर दुखित भी थे। मरण की आशंका से कुछ सोचते थे कि अब इन कुचाली मन्त्रियों की विजय ही समझिये। इसी समय महाराज ने हाथ उठाकर वत्स का साधुवाद किया—कहा, "वत्सराज! हमें तुम पर गर्व है। तुम इस राजसभा के ही नहीं समस्त राज्य के गौरवशाली रत्न हो। हमें तुमसे और एकमात्र तुमसे ही यह आशा थी कि हमारा निमन्त्रण तुम यमराज जी को प्रेषित कर सकोगे। आज तुमने हमें फिर से चिन्तामुक्त कर दिया। तुम धन्य हो!" महाराज के इस कथन से उत्साहित होकर वत्स उत्तर में कुछ निवेदन करने ही वाला था कि सहसा कुशलमान ने कहा—"निमन्त्रण-पत्र तैयार है महाराज! समय भी अब अधिक शेष नहीं है। वत्सराज को कब विदा किया जाय?"

महाराज जितशत्रु अपना कोई निर्णय देते इसके पूर्व ही वत्स ने प्रस्तावित कर दिया—"शुभ कार्य में विलम्ब कैसा महाराज ! मैं आज ही चला जाऊँगा।" "यही उत्तम रहेगा महाराज ! मैं वत्सराज की यात्रा के लिए अग्निरथ तैयार कराये देता हूँ। संध्या समय नगर के बाहर से हम इन्हें विदा कर देंगे।" परिवर्तन की आशंका आंकते हुए मन्त्री ने तत्काल व्यवस्था सुझा दी। महाराज ने भी शीष हिलाकर अपनी अनुमति प्रदान कर दी।

संध्या समय नगर के बाहर खुले स्थल पर उत्कंठित, विशाल जन-समूह एकत्र था। एक विशाल पीठ पर महाराजा स्वर्णासन पर विराजमान थे। मन्त्रीगण एवं अन्य उच्चाधिकारी हाथ बांधे अनुशासित रूप में खड़े थे। सामने ही एक विशाल हवन कुण्ड सा निर्मित कर लिया गया था। काफी गहरा एक वर्गाकार गड्ढा सूखी लकड़ियों से भरा था। चारों ओर किनारे-किनारे भांति-भांति की रंगोली सजी थी।

प्रतीक्षा समाप्त हुई। वीर वत्स मंच पर उपस्थित हुआ। महाराज के सामने झुककर उसने प्रणाम किया। महाराज भी अपने स्थान पर खड़े हो गये। वत्स को उन्होंने स्वयं तिलक किया और उत्तरीय धारण कराया। श्रीफल की भेंट देते हुए उसे सम्मानित भी किया और निमन्त्रण पत्र थमाते हुए उसे आशीष के साथ विदा किया—"जाओ वत्स सकुशल पहुँचकर हमारा सन्देश यमराजजी को दो।"—जाते-जाते महाराज ने अपने कंठ से मोतियों का हार उतारकर वत्स को पहना दिया। उपस्थितजन ने करतल ध्वनि के साथ हर्ष व्यक्त किया। इसी समय अग्नि प्रज्वलित कर दी गयी। मुक्त पवन पाकर ज्वालाएँ लपलपाती हुई ऊपर उठने लगीं। कुशलमान ने संकेत करते हुए वत्स से कहा—चलिये वीर-वर, आपका रथ तैयार है। वत्स मंच से ही छलांग लगाकर अग्नि में कूद गया। लपटों से घिरकर कुछ ही पलों में वह अदृश्य हो गया। एक कोलाहल चरम पर पहुँचकर शान्त हो गया। सभी विसर्जित हो गये। क्या राजा और क्या प्रजा—सभी को निश्चय हो गया कि अब वत्स का कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रहा, वह अपनी मिथ्या शान की बलि चढ़ गया।

× × ×

रात्रि में राजप्रासाद में गोष्ठी जुड़ी। मन्त्रीगण महाराज की सेवा में उपस्थित हुए। कुशलमान व अचलबुद्धि—दोनों को अपनी योजना की

सफलता पर गर्व था। उनकी आंखों की चमक इसकी साक्षी थी। महाराज को अपने मन्त्रियों पर गर्व था जिन्होंने उनकी मनोकामना पूर्ण होने का मार्ग सुगम कर दिया। इस एकान्त गोष्ठी में महाराज ने मन्त्रियों का आभार स्वीकार किया।

कुशलमान ने उपयुक्त अवसर पाकर अपनी बात रख दी—"महाराज! आपके मार्ग का एक काँटा हटा वैसे हमारे मार्ग में भी वह काँटा ही था। अब महाराज आपके महाबलाधिकृत ने तो दम तोड़ दिया है। इस पद की पूर्ति का अब आपका क्या विचार है?" कह कर वह महाराज के हाव-भावों का अध्ययन करने लगा। तभी अचलबुद्धि ने बात को सँभाला—"मन्त्रीजी वह तो हो हो जायगा—महामात्य का पद भी तो भरा जाना है। महाराज क्या हमारी स्वामिभक्ति देख नहीं रहे हैं। समय आने पर सब ठीक हो जायगा।"

महाराज इन दोनों के वाक्चातुर्य से बड़े प्रभावित हुए। सोचने लगे कि ये लोग अपना स्वार्थ किस निस्स्वार्थता के साथ प्रकट कर गये हैं। तभी अचलबुद्धि ने अपनी बात को पूर्ण करते हुए कहा—"अभी तो विचाराधीन प्रश्न यह है कि वत्स की पत्नियों को रनिवास में कब लाया जाय?"

महाराज तो इस प्रश्न पर मौन रहे, किन्तु कुशलमान बोल उठा—"अब यह प्रश्न सरल हो गया है। यह सार्वजनिक तथ्य है कि वत्स की मृत्यु हो गयी है। अब उसकी तीनों पत्नियों पर महाराज का अधिकार स्वयं सिद्ध है। अब किसी भी लोकापवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।"

"कुशलमान का विचार उचित ही है महाराज! हमें अब विलम्ब नहीं करना चाहिये। कल प्रातः ही तीनों रमणियों को राजभवन में बुलवा लिया जाय—इसी में बुद्धिमानी रहेगी।"

महाराज ने मानो दूर भविष्य में झांकने का प्रयत्न करते हुए कहा—"सुनो मंत्रियो, सुनो, अभी ऐसा करने में बुद्धिमानी नहीं होगी। धीरज का फल मीठा होता है और आतुरता दुखद रहती है। अभी तो वत्स ने एक माह में लौटने की अवधि दी थी। उस अवधि तक हमें इस दिशा में कोई चरण नहीं उठाना चाहिये। कदाचित् उसके पश्चात् कोई आशंका भी नहीं रहेगी और लोकनिन्दा का कोई कारण भी बच नहीं रहेगा। तब तक धैर्य को हमें अपना साथी बनाये रखना होगा।" पवन के वेग ने दीपक की लौ को डगमगा दिया। अन्धकार अपने आगमन की पूर्व सूचना देकर रह गया।

२०

रथारूढ़ महाराज जितशत्रु अपनी कामना की सफलता के मद में उन्मत चले जा रहे थे वत्स के प्रासाद की ओर। रथवाहक को वे बार-बार गति तीव्र करने को कहते थे। अश्व भागे चले जा रहे थे। आतुर मन अधीर और चंचल हो उठा था। परम्परा तोड़कर अश्वारोही ध्वजवाहकों के भी आगे महाराज का रथ रखा गया कि ध्वजवाहकों की गति इन्हें धीमा न बना दे। पीछे-पीछे मंत्रीगण, उच्चाधिकारी और एक छोटा सा सैन्य दल चला आ रहा था।

आज वत्सराज के अग्निप्रवेश को एक माह पूरा हो गया था। आज ही महाराज का रमणीत्रयी से मिलन का मधुर स्वप्न साकार होने को था। गत रात्रि उन्होंने आँखों ही आँखों में व्यतीत कर दी थी। उनके नेत्र अरुण और पलकें भारी हो रही थीं। उनके तन में तरंग और मन में उमंग थी। शीघ्र मिलन की कामना के साथ बढ़ते चले जा रहे महाराज को अपने रथ की अधिकतम गति भी रेंगने जैसी लगती थी। आज विशेष वेश-भूषा थी उनकी। इत्र-फुलेल का प्रयोग भी बड़े दिनों बाद आज फिर से किया गया। उन्हें सारा जगत आज रंग-बिरगा और अपना-अपना सा लग रहा था।

महाराज का काफिला बढ़ता ही चला जा रहा था कि सहसा व्यवधान आ उपस्थित हुआ। महाराज के रथवाहक ने वल्गा खींची, झटके के साथ रथ रुक गया, अश्व जोर से हिनहिनाते हुए आगे के पैर ऊपर उठाकर उछल पड़े। महाराज परिस्थिति की गम्भीरता को समझते-समझते—तब तक रथवाहक रथ छोड़कर, भूत-भूत चिल्लाता हुआ भाग खड़ा हुआ। कहाँ भूत····कैसा भूत····! महाराज कुछ समझने के प्रयत्न में हो थे कि उन्होंने देखा मार्ग में सामने ही अपने रथ से उतरकर वत्स हाथ जोड़े नम्रता का भाव लिए खड़ा है। तो····वत्स मरा नहीं····वह जीवित है !! किन्तु····

किन्तु यह कैसे हो सकता है ! वत्स तो अग्नि-प्रवेश कर चुका था। महाराज मन में बहुत ऊँचा-नीचा सोचने लगे। उन्होंने ध्यान से देखा उसके कंठ में वह मोतियों की माला भी नहीं थी जो महाराज ने स्वयं उसे अग्नि प्रवेश के समय पहनायी थी। क्या वास्तव में यह कोई माया प्रपंच तो नहीं। कहीं यह वत्स का भूत ही तो नहीं ! महाराज सोच ही रहे थे कि उन्होंने पाया कि वत्स ने आगे बढ़कर उनके चरण छू लिये। भूत का ऐसा आचरण संभव नहीं''''महाराज सोचने लगे। प्रकटतः उन्होंने वत्स को यशस्वी होने की आशीष दी और पूछा—"तुम आये कब ? हम तो तुम्हारी खोज में ही उस ओर आ रहे थे।"

विनम्रता के साथ वत्स ने कहा—"मैं गत रात्रि ही लौटकर आया। महाराज मैंने यमराज को आपका निमन्त्रण पहुँचा दिया—वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। चलिये महाराज, राजसभा में ही सारा वृत्तान्त प्रस्तुत कर दिया जायगा—वहीं चलते हैं।" महाराज का सुख-स्वप्न ताश के महल की तरह ढह गया। वही हुआ जो वे नहीं चाहते थे और वह नहीं हो पाया जिसे वे चाहते थे। अपनी हताशा पर प्रसन्नता का लेप चढ़ाते हुए महाराज ने कहा—"वत्स ! मैं बड़ा प्रसन्न हूँ कि तुम लौट आये, अन्यथा यमलोक से कौन लौट पाता है। चलो, राजसभा ही चलते हैं। आश्वस्त होकर अब तक रथवाहक भी पुनः अपना स्थान ले चुका था। सारी शोभा यात्रा पलटकर राजभवन की ओर चल पड़ी। अबकी बार राजा के रथ से भी आगे वत्स का रथ हो गया था।

वन की अग्नि की भाँति ही यह समाचार फैल गया कि वत्सराज जीवित है, वह यमलोक से सदेह लौट आया है। महाराज ने राजसभा में प्रेमपूर्वक वत्स का स्वागत किया। महाराजा और समस्त राजसभा को प्रणाम निवेदन कर वत्स ने वृत्तान्त प्रस्तुत किया। महाराज, अग्नि-प्रवेश के पश्चात् तुरन्त ही मुझे यमलोक का मार्ग मिल गया। सारा मार्ग बड़ा ही भव्य—बड़ा सुन्दर था। हम व्यर्थ ही यमलोक से भयभीत रहते हैं। वह तो बहुत सुन्दर लोक है। यमलोक के भीतर प्रवेश करने लगा तो मुझे अनेक प्रहरियों ने घेर लिया। भीतर जाने की अनुमति नहीं मिली और लगे वे प्रहरी अनेक प्रकार के प्रश्न करने। कहाँ से आये हो ?—कौन दूत तुम्हें लेकर आया है''''? किससे मिलना है ? आने का प्रयोजन ? और न जाने क्या-क्या !! जब सारे प्रश्न पूरे हो गये तो मैंने एक ही संक्षिप्त उत्तर दिया

कि भाई, मैं तो मर्त्यलोक से आया हूँ। वहाँ के महाराज जितशत्रु की तुम लोगों के महाराज यमराज जी से प्रगाढ़ मित्रता है। मैं उनका संदेश-वाहक हूँ, दूत हूँ उनका, यमराजजी से मिलने आया हूँ।

एक प्रहरी भीतर सूचना देकर अनुमति प्राप्त करने को गया। कुछ ही क्षणों में क्या देखते हैं कि वह प्रहरी पीछे-पीछे और आगे-आगे स्वयं यमराज चले आ रहे हैं। महाराज, आपका नाम सुनकर वे आसन पर बैठे नहीं रह सके, तुरन्त दौड़कर अगवानी को आये, गले मिले और मुझे आदर पूर्वक साथ ले गये। कहने लगे—मित्र के दूत से मिलना, मित्र से ही मिल लेने के समान आनन्ददायक होता है।

वत्स कहता जा रहा था, सभासद ध्यान से सुनते जा रहे थे और महाराजा की प्रतिष्ठा उनकी दृष्टि में बढ़ती जा रही थी। ओहो-ओ''' इतनी घनिष्ठता है महाराज की''''यमराज के साथ। महाराज को स्वयं को बड़ा अद्‌भुत, बड़ा अविश्वसनीय लग रहा था। वे स्वयं तो सारा यथार्थ जानते ही थे। कुछ कहने की स्थिति में नहीं थे वे। वे सुनते रहे, वत्स कहता रहा—"यमराज जी ने मुझे अपने साथ वाला आसन दिया और अपनी राजसभा में उन्होंने आपका बड़ा सम्मानजनक रूप में परिचय दिया, आपको अपना अभिन्न मित्र बताया। अनेक संस्मरण भी सुनाये।"

सारा वृत्तान्त जान लेने को उत्सुक उपस्थित जन कान लगाये बैठे थे। कुछ क्षण रुककर वत्स ने आगे कहा—"मैंने नम्रता और आदरपूर्वक राजकुमारीजी का वैवाहिक निमंत्रण-पत्र महाराज यमराज को भेंट किया और मौखिक रूप से आपकी ओर से अनुरोध भी किया कि इस पाणिग्रहण महोत्सव में अवश्य ही सम्मिलित होने की कृपा करें। महाराज! उन्होंने दोनों हाथों से निमंत्रण-पत्र ग्रहण करते हुए उसे मस्तक पर लगाया और मुझसे कहा—"बंधु, मैं महाराज जितशत्रुजी का बड़ा आभारी हूँ। उन्होंने प्रेमपूर्वक स्मरण किया, हमारे लिए यह गौरव की बात है। आप जाकर हमारी ओर से उन्हें आमंत्रण के लिए धन्यवाद प्रेषित कर दीजिये। हाँ, यमलोक की समस्याओं और काम-काज की अधिकता के कारण उज्जयिनी आना सम्भव नहीं होगा। इसके लिए मेरी क्षमायाचना भी उन तक पहुँचा दीजिये। मुस्कुराते हुए उन्होंने कहा कि हमारे मित्र तो बड़े कृपालु हैं—वे सदा ही मुझ पर बड़े उदार रहे हैं।"

वत्स का कुछ क्षणों का मौन भी सभी को अखरने लगा, किन्तु आगे

को बात का वह तनिक जमाकर कहना चाहता था। यह विराम, कुछ क्षणों का इसी कारण था। महाराज की चिन्तन मुद्रा भंग करते हुए वत्स से उन्हें फिर से सम्बोधित करते हुए कहा कि—"आपसे एक विशेष अनुरोध महाराजा यमराज ने किया था। कहने लगे कि नरेश जितशत्रु और राज्य के मंत्री आदि की मुझे बड़ी स्मृति आती है। वर्षों हो गये हम परस्पर मिल भी नहीं पाये हैं मेरा आमंत्रण उन्हें पहुँचाइये कि वे स्वयं उनके मंत्रीगण के साथ यमपुरी की यात्रा पर अवश्य आएँ, बिटिया श्रीदेवी के विवाह के पूर्व ही आएँ - मुझे एक अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण संदेश भी देना है—श्रीदेवी के लिए।" महाराज अजीब उलझन में फँस गये। अपने ही बुने जाल में वे जकड़ गये। कुछ समझ नहीं पा रहे थे कि यथार्थ क्या है"""कितना है? इसी समय एक विशाल और अद्भुत आकृति ने राजसभा में प्रवेश किया। सीधा तना हुआ ऊँचे कद का यह काला व्यक्ति बड़ा भयानक प्रतीत होता था। उसका साँचे में ढला सा देह बड़ा बलिष्ठ लगता था। तेल चुपड़े जैसा चमकीला काला शरीर, लाल चमकती आँखें और श्वेत दाँत काले चेहरे पर बड़े वीभत्स लगते थे। घुटनों तक ऊँची कसी हुई धोती—बस यही उसका वस्त्र था। हाथ में सिर की ऊँचाई तक का मजबूत लट्ठ था। आकर वह चुप-चाप वत्स के समीप खड़ा हो गया। इस भयावनी आकृति के रहस्य से अनभिज्ञ उपस्थित जन किसी भावी अनिष्ट की आशंका से चिन्तित थे। तभी वत्स ने कहा—"महाराज ये यमराज के दूत हैं, मेरे साथ यमलोक से आये हैं। इन्हें यमराज जी ने विशेष रूप से भेजा है, कि ये आपको और मंत्रियों को यमलोक ले जायँ और वापस यहां छोड़ भी दें।" ऊँची गर्दन से दूत जिधर शीष घुमाता उधर ही भय की लहर दौड़ जाती थी। अपनी कर्कश ध्वनि में उसने मात्र यही कहा कि यमलोक सुन्दर स्थान है। मैं आपको विना किसी असुविधा के ले जाऊँगा। कोई भय नहीं मानिये।

महाराज के मन में भी आश्वस्तता और यमलोक के प्रति आकर्षण जागा। उन्होंने अपने मंत्रियों और स्वयं के यमलोक यात्रा की स्वीकृति प्रदान कर दी। उसी संध्या का समय भी निश्चित हो गया।

निश्चित समय पर नगर के बाहर उसी अग्निकुण्ड पर पुनः अपार जन समूह एकत्र था। उच्च मंच पर महाराजा, मंत्रीगण, वत्स, यमदूत आदि खड़े थे। अग्नि की ज्वालाएँ लपलपा रही थीं। वत्स ने कहा—यमदूत अपने कंधों पर बिठाकर अपने अतिथियों को यमलोक की यात्रा पर ले

जाएँगे। इस कारण एक बार में केवल दो यात्री जा सकेंगे। यमलोक के नियमानुसार राजा से आगे उनके मंत्री रहते हैं। संयोग से अचलबुद्धि और कुशलमान—ये दो ही मंत्री हैं। आज यमदूत के साथ दोनों मंत्री यहाँ से प्रस्थान करेंगे। इन्हें यमलोक पहुंचाकर दूत जी सवेरे लौट आएँगे और महाराज व मैं कल संध्या को जाएँगे। दोनों मंत्रियों के जी की कली खिल गयी। लपटें अब तक ऊँची-ऊँची उठने लगीं। आज नगाड़ों की विशेष व्यवस्था थी। वत्स के संकेत पर एक साथ सैकड़ों नगाड़ों की ध्वनि से आकाश भर उठा। कान पड़ा शब्द नहीं सुनाई देता था। यमदूत ने दोनों मंत्रियों को कंधों पर बिठाया और अग्नि में कूद गया। नगाड़ों की ध्वनि और भी तीव्र हो उठी। यमलोक यात्रा का एक चरण इस प्रकार पूरा हो गया। कार्यक्रम कल तक के लिए स्थगित हो गया। सभी विसर्जित हुए।

वत्स अब महाराज जितशत्रु के बहुत समीप हो गया था। बड़ी देर तक वह महाराज से राजभवन में वार्तालाप करता रहा। आगामी प्रातः भी महाराज ने उसे बुलवाया। पूछा—"यमदूत लौट कर आ गया है क्या? मंत्रीगण सकुशल यमलोक पहुँच गये न?"

मुस्कुराते हुए वत्स ने कहा—"कौन यमदूत और कैसा यमलोक पहुँचना। कोई सदेह यमलोक नहीं जा सकता महाराज और लौटने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। अचलबुद्धि और कुशलमान को अपनी करनी का फल मिल गया महाराज! उनकी कुबुद्धि ही उनके प्राणांत का कारण बनी। कल सायं उनका जीवित ही दाहसंस्कार हो गया महाराज।

महाराज के लिए क्रमशः रहस्यों पर से परदे उठते जा रहे थे। बोले—"क्या कहते हो बेटे वत्स! क्या····क्या यह सच है?"

उत्साहित होते हुए वत्स ने कहा—"हाँ····महाराज, हाँ, यह सत्य है। सिंहनी का शिकार हुआ मंत्री वचनसिद्ध भी इसी प्रकार अपनी करणी से मारा गया। ये मंत्रीगण स्वयं तो दुष्कर्मी थे ही, इन्होंने आपको भी कुमार्गी बनाने में कोई कसर नहीं रखी। आप तो मेरे पिता का स्थान रखते हैं, पिता ही हैं मेरे। आपके लिए मेरी पत्नियों में और राजकुमारी श्रीदेवी में भला क्या अन्तर हो सकता है! किन्तु इन दुराचारी मंत्रियों ने कुमंत्रणाओं के द्वारा मेरी पत्नियों के विषय में भी आपके मन को कुत्सित बना दिया था। उन्हें उचित दण्ड मिल गया महाराज, उनके साथ न्याय हुही आ है।" महाराज का मन हुआ कि वे अपने कुविचार के लिए प्राय-

श्चित्त करें। उनका मन निर्मल होने लगा। उन्होंने खुलकर अपना दोष स्वीकार किया और श्रेष्ठजनोचित व्यवहार किया। उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे। मन का मैल उनमें घुलकर बह गया। अज्ञान का परदा उठ गया। अतिशय स्नेह के आवेग में उन्होंने वत्स का भाल चूम लिया और उसे गले से लगाते हुए कहा—"वत्स ! मैं कृतार्थ हो गया तुम जैसा बेटा पा करके। आज से मेरा एक राजकुमार और चार राजकुमारियाँ हैं। वत्स तूने मेरा भव सुधार दिया—मेरे जीवन को तूने ही सार्थकता प्रदान की है। तू धन्य है वत्स ! तू धन्य है !!"

महाराज ने श्रीदेवी को उपस्थित करने की आज्ञा दी और वत्स से पूछा—"तो तुम यमलोक कैसे गये—कैसे लौटे तुम ?"

"नहीं, महाराज मैं यमलोक नहीं गया"—वत्स ने स्पष्ट किया। मेरी पत्नियों स्वर्णचूला एवं रत्नचूला के पिता व्यन्तर देव पवनगति ने इसमें हमारी सहायता की थी। पवनगति देव ने ही मेरा रूप धारण कर अग्नि-प्रवेश किया था। मैं तो घर से बाहर ही नहीं निकला। कल यमदूत बनकर भी वे ही देव आये। उनके बिना दोनों मंत्रियों को उनकी करणी का फल नहीं मिलता। वे स्वतः अग्नि-प्रवेश नहीं करते। बह सारा प्रकरण वहीं समाप्त हो गया महाराज !"

अब तक श्रीदेवी उपस्थित हो गयी थी। महाराज ने दोनों का पाणिग्रहण अपने हाथ से कराया और "आज से तुम दोनों जीवन सहचर हुए"—कहते हुए आशीर्वाद प्रदान किये। श्रीदेवी ने पल्ला सिर पर लिया—दोनों ने एक साथ महाराज के चरण स्पर्श किये। शीघ्र ही समारोह पूर्वक विवाह-विधि सम्पन्न हुई। कर-मोचन में वत्स को अपना समस्त राज्य प्रदान कर दिया। उज्जयिनी नरेश के रूप में वत्सराज का राज्याभिषेक हुआ। जितशत्रु जी ने श्रामणी दीक्षा ग्रहण की। मुनिव्रत का पालन करते हुए वे मोक्ष की साधना में जुट गये।

❀

२१

उज्जयिनी में ही गायें चराने वाला वत्स आज उज्जयिनी-नरेश था। महत्वाकांक्षा और लगन का योग हो तो कोई लक्ष्य अप्राप्य नहीं रह सकता। वह सदा यही सोचता था कि उसका प्रादुर्भाव ही राज करने को हुआ है। कितनी ही अँधेरी-उजाली आती जाती रहीं—अन्ततः उसका स्वप्न साकार हो ही गया।

सर्वत्र उज्जयिनी-नरेश वत्सराज का यशोगान हो रहा था। न्याय-शीलता में वह अपने पिता महाराज वीरसेन के समान था। माता धारिणी का छिना हुआ राजमाता का गौरव उसे यहाँ पुनः प्राप्त हो गया। बड़ी माँ को तो अपने बेटे वत्स की इस महान उपलब्धि पर अपार-अपार संतोष मिलता था। उसे बार-बार किशोर वत्स का वह कथन स्मरण आता था कि नियति में होगा तो मैं एक दिन राजा अवश्य बन जाऊँगा। आज यदि उसने खोयी प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लिया तो यह मात्र संयोग की बात नहीं है, उसके संचित पुण्य कर्मों का उदय होने लगा है। बड़ी माँ बड़ी विचारशीला थीं। वह परिस्थितियों से सही निष्कर्ष पर पहुँच जाना खूब जानती थी।

महाराज वत्सराज शूरवीर थे, न्यायप्रिय थे, प्रजावत्सल थे। आदर्शों का अनुसरण उन्हें प्रिय था और नीति-अनीति का भेद भी वे खूब जानते थे। उनके कथन और आचरण में भी एकरूपता थी। प्रजा को वे अपनी सन्तान के समान वात्सल्य देते थे और उसके सुख-दुःख पर ही नरेश का सुख-दुःख निर्भर करता था। महाराज वत्सराज अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण न केवल अपने राज्य में लोकप्रिय थे—उनका यश दूर-दूर के राज्यों तक में व्याप्त हो गया था। लोग कहा करते थे—"राजा हो तो वत्सराज

जैसा।" उनके न्याय की, उनके निर्णयों की मिसाल दी जाती थी। सुदूर क्षितिप्रतिष्ठितपुर में भी उनका यश सौरभ फैलने लगा।

क्षितिप्रतिष्ठितपुर राज्य का अधःपतन होना ही था और होकर रहा। सब ओर अराजकता का राज्य था। सारे आदर्श, सारी नीतियाँ पराभूत—सबल हो गया था स्वार्थ, स्वकेन्द्रितता, अनाचार और अन्याय। राज-भय किसी को नहीं रह गया था। लूटो और लूट का एक अंश राजा को दो—जहाँ राज्य की यह नीति बन जाये, उस नरेश से किसी आदर्श की, सुव्यवस्था की आशा की भी नहीं जा सकती है। सर्वत्र धर्म का क्षय और अधर्म को बढ़ावा मिल रहा था। शांति-व्यवस्था अब तो नाममात्र के लिए भी नहीं थी। सज्जनों, संतों को पीड़ा ही पीड़ा और सुख-सुविधा सारी की सारी दुर्जनों ने अपने लिए सुरक्षित कर लीं। जनसामान्य कष्ट भोगते-भोगते अब टूट चुका था। जनता परिवर्तन और क्रांति के लिए प्रतीक्षारत थी, किन्तु इसके लिए किसके मुख की ओर टकटकी लगाये—कोई विकल्प ही नहीं दिखायी देता था। अब तो कोई लोकनायक ही उत्पन्न होकर जनरक्षा का बीड़ा उठाये, तो कुछ काम बने। इस घोर निराशा के गाढ़े आवरण को विदीर्ण कर आशा की एक क्षीण सी किरण बनकर महाराज वत्सराज की प्रसिद्धि वहाँ पहुँची। दुखित जन संगठित हुए। उन्होंने उज्जयिनी नरेश से अनुरोध करने का निश्चय किया कि क्षितिप्रतिष्ठितपुर का भी उद्धार करें।

क्षितिप्रतिष्ठितपुर का एक विशाल जन प्रतिनिधि मण्डल राजभवन में उपस्थित हुआ है—समाचार पाकर महाराजा वत्सराज को हार्दिक प्रसन्नता हुई। आदरपूर्वक इन सभी की अगवानी की गई। सत्कार-स्वागत में कोई कमी न रह जाय, महाराज ने अधिकारियों को आदेश-निर्देश दिये। उनके सुख-सुविधा की सारी व्यवस्था सुचारु रूप से की गई। क्षितिप्रतिष्ठितपुर के इस प्रतिनिधिमण्डल में किसान, श्रमिक भी थे, कलाकार-दस्तकार भी, धर्माचार्य भी थे और व्यवसायी भी। सभी वर्गों के प्रतिनिधि उज्जयिनी पहुँचे थे। सभी अपने यहाँ के कुशासन से त्रस्त और पीड़ाग्रस्त थे।

महाराज से भेंट होने पर सभी ने एक स्वर से यही अनुरोध किया कि वत्सराज देवराज को अपदस्थ कर क्षितिप्रतिष्ठितपुर के शासन की बाग-डोर स्वयं संभालें। विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने ढंग से

यही एक आशय दुहराया। अन्ततः अपना मंतव्य प्रकट करते हुए महाराज वत्सराज ने कहा कि देवराज को अपनी सीमा में अपने मनोनुकूल शासन करने का अधिकार है। हमारा उसमें हस्तक्षेप उचित नहीं है। हम क्षिति-प्रतिष्ठितपुर के कुमार रहे हैं—यह भी सत्य है कि स्वर्गीय महाराज हमारे राज्यारूढ़ होने के पक्ष में थे, किन्तु अब जब निष्कासन भोग कर हमें यह स्थान प्राप्त हो गया—वे बातें सब इतिहास की हो गयी हैं। उनकी कोई राजनैतिक महत्ता नहीं रह गयी है। क्षितिप्रतिष्ठितपुर मेरी मातृभूमि रही है और रहेगी। इस नाते मुझे आप सभी से सहानुभूति है, किन्तु बंधु देव-राज को अपदस्थ करना हमारे लिए नीतियुक्त नहीं होगा।

आगंतुकों में से एक बुजुर्ग सज्जन ने परामर्श दिया—"महाराज! हम आपको क्षितिप्रतिष्ठितपुर पर आक्रमण करने को नहीं कहते, किन्तु ऐसा तो किया ही जा सकता है कि आप वहाँ पधारें और हमारे महाराज को सन्मार्ग ग्रहण करने की प्रेरणा दें। यदि हमारा भाग्य अनुकूल हुआ तो देवराज महाराज को सद्बुद्धि मिल ही जायेगी।"

महाराज वत्सराज को परामर्श में औचित्य प्रतीत हुआ। उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। देवराज के चरों से उसे ज्ञात हो ही गया था कि उसके नागरिक उज्जयिनी पहुँचे। उद्देश्य की कल्पना तो वह कर ही सकता था। महाराज वत्सराज ने इन लोगों के साथ ही क्षितिप्रतिष्ठितपुर के लिए प्रस्थान किया। अपनी पत्नियों, माँ और बड़ी माँ को भी साथ ले लिया था। अनेक दास-दासियाँ भी साथ थीं और अधिकारीगण भी। सेना की एक टुकड़ी भी आत्मरक्षा के प्रयोजन से ले जायी गयी। इस यात्रा दल में महाराज वत्सराज के वैभव का परिचय मिलता था और उनकी शक्ति व शौर्य का भी। विभिन्न आयुध इसके साक्षी थे। चमचमाती खुली तलवारें, भल्ल, गदा, शरासन आदि का अद्भुत प्रदर्शन था। अनेक हाथी, अश्व, रथ आदि इस दल की शोभा बने हुए थे। इस अभियान का प्रयोजन मात्र यही था कि नरेश देवराज को सुशासक होने की प्रेरणा दी जा सके।

इस राज-दल का समाचार क्षितिप्रतिष्ठितपुर में सर्वत्र फैल गया। जनता में अपूर्व उत्साह उमड़ने लगा, किन्तु आक्रमण के भय से नृप देवराज तो थर-थर काँपने लगा। कायरों के मन उनके हाथों की अपेक्षा पैरों को ही अधिक सक्रिय करते हैं। देवराज भी राज-पाट छोड़कर प्राण बचाने को घने वनों में भाग गया।

महाराज वत्सराज जब क्षितिप्रतिष्ठितपुर पहुँचे—वहाँ का राज्यासन रिक्त पड़ा था। इस विचित्र स्थिति की उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी। राज्याधिकारियों एवं प्रजाजनों का अनुरोध वत्सराज को विवशतः स्वीकार करना ही पड़ा। एक समारोह में वत्सराज का राज्याभिषेक कर दिया गया। महाराज वीरसेन के स्वर्गवास के समय से इतिहास-गाथा मानो पुनः आरम्भ हुई। यह अन्तराल इस योग्य रहा भी नहीं कि क्षितिप्रतिष्ठितपुर के गौरवपूर्ण इतिहास में भव्यता के साथ जोड़ा जा सके। इसे हटाकर मानो इतिहास वर्षों पीछे पड़ गया। जहाँ से भूल हो गयी थी, मानो वहीं से गिनती अब फिर से आरम्भ की गयी थी। राज्य के समस्त वर्गों में अमित संन्तोष और सुरक्षा का अचल विश्वास था। शांति, स्थिरता और नियम-पालन की स्थितियों ने विकास और उत्थान के नवीन-नवीन मार्ग खोल दिये थे। अब सुख की सांस पाकर जन-मानस आश्वस्त हो गया था।

महाराज वत्सराज अब क्षितिप्रतिष्ठितपुर और उज्जयिनी दोनों राज्यों के लोकप्रिय नरेश थे। वे न्यायशीलता, जनहितैषिता और वात्सल्यपूर्वक प्रजा-पालन करने लगे। स्वर्गीय महाराज वीरसेन का स्वप्न, विलम्ब से ही सही, किन्तु अन्ततः साकार हुआ। महाराज वत्सराज को निष्कासन का वह प्रसंग कभी-कभी स्मरण हो आता था जो कटु भी था और नियति का एक अनिवार्य भाग भी था। उन्हें उस समय का यह कथन भी स्मरण हो आता था कि राजा बन जाना एक बात है और राजा बने रहना अन्य बात। मेरे प्रारब्ध में क्षितिप्रतिष्ठितपुर का नरेश बनना है, तो एक दिन मैं अवश्य ही बनूंगा।

२२

समय का प्रवाह अनन्त है। अजस्रता के साथ, अविराम रूप में समय की यात्रा चलती रहती है। चलती रहती है समय की गतिशीलता और उसके साथ उसका शिल्प भी। समय सबसे बड़ा शिल्पी है। वही जीवन और जगत् को नव-नवीन रूप में ढालता रहता है। यही परिवर्तनशीलता है, यही विकासशीलता है। जगत का क्रम यों ही अग्रसर होता रहता है।

समय-शिल्पी ने अब राजमाता धारिणी को, उनकी अग्रजा—सोमश्री को श्वेत-केशिनी वृद्धा बना दिया था, तो महाराज वत्सराज को उसने अर्द्ध-श्वेत-केशी प्रौढ़ बना दिया। समय के हाथों ही सोमदत्ता, रत्नचूला, स्वर्ण-चूला और श्रीदेवी भी ढलती आयु को प्राप्त होने लगीं। इनके एक-एक राजकुमार अब यौवनप्राप्त, रूपवान, कान्तिमान, शूर-वीर और साहसी के रूप में प्रसिद्धि पाने लगे थे। वर्तमान ही मनुष्य को अपना सर्वस्व लगता है। बीते पर उसका ध्यान कम और भवितव्य पर कुछ अधिक जाता है। वह प्रौढ़ावस्था में कल के निर्माण पर कुछ अधिक ही चिन्तित रहता है।

धर्मानुरागी महाराज वत्सराज व्यक्तिगत जीवन में भी परम धार्मिक थे। उनका आचरण धर्मसम्मत ही होता था। नित्य नियम से वे धर्म-क्रियाओं के अभ्यासी थे। समस्त राज-परिवार, प्रजावर्ग सभी निर्ग्रन्थ धर्मानुयायी हो गये थे। धर्मालोक से उनका राज्य सुदीप्त रहा करता था। धर्माचरण ने प्रजा को सुखी बना दिया था, सत्य और शान्ति का व्यवहार दृष्टिगत होने लगा। अनीति और अनाचार तो मात्र भय के कारणस्वरूप, अदृश्य अस्तित्व में ही रहे। इस सबका श्रेय महाराज वत्सराज को प्राप्त था। वे महान थे, साथ ही विनीत भी, वे शक्तिशाली थे, साथ ही करुणा-शील भी। उनका भरा-पूरा परिवार था, सुख-वैभव तो उनके चरणों का दास था।

महाराज को सूचना मिली कि एक परम ज्ञानी मुनि अपने संघ सहित क्षितिप्रतिष्ठितपुर में पदार्पण कर रहे हैं। महाराज की प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं रही। तुरन्त समस्त राजकरण को सक्रिय कर दिया गया। मुनिश्री के भव्य स्वागत की तैयारी की गयी। उनके प्रवास की सारी व्यवस्थाएं कर दी गयीं। सन्त-सेवक राजा वत्सराज के मन में जैसा भक्ति और उत्साह का भाव था, क्षितिप्रतिष्ठितपुर की सारी प्रजा में भी वैसा ही था।

नगर-बाह्य विस्तृत उद्यान में विशाल पाण्डाल दर्शनार्थ सजाया गया। प्रतिदिन असंख्य जन उपदेशामृत का पान करने को एकत्रित होते। महाराज वत्सराज भी सपरिवार उपस्थित हुए। सभी ने देशना से ज्ञान व प्रेरणा प्राप्त की। मुनिश्री के चरणों में बैठे महाराज की जिज्ञासा मुखरित हो उठी, निवेदन किया—"महाराजश्री ! मेरे जीवन में सुख-दुःख, उतार-चढ़ाव बने ही रहे हैं। पिताश्री उत्तराधिकारी घोषित करना चाहते थे—और मुझे निष्कासन मिला, साधारण-जन सा जीवन बिताया, दासत्व भी अपनाया, सम्मान भी मिला, राज्यत्व भी मिला। दो-दो माताओं की आशीष भी मिली, तो एक मात्र अग्रज से भी ईर्ष्या ही मिली। अब दो-दो राज्यों का स्वामी हूँ, सभी सुख-वैभव सुलभ हैं। सुन्दर, योग्य चार-चार पुत्रों का सौभाग्यशाली पिता भी हूँ, सुशीला पत्नियों का स्वामी भी।"

नरेश एक क्षण विरामोपरान्त फिर से बोले—"महाराजश्री ! मेरे जीवन में इतनी उथल-पुथल क्यों रही ? क्यों इतनी ऊँच-नीच देखनी पड़ी ? कृपापूर्वक विवेचना कीजिये।"

मुनिश्री नेत्र निमीलित कर ध्यानपूर्वक नरेश का कथन सुन रहे थे। कथन की समाप्ति पर उन्होंने धीमे से पलकें उठायीं। कुछेक क्षणों के मौन के पश्चात आशीर्वाद सूचक हाथ उठाते हुए उन्होंने गम्भीर वाणी में कहा, "राजन् ! तुम्हारे मन में इस प्रकार की जिज्ञासा का उठना अति स्वाभाविक है। मनुष्य के सुख-दुःख, उत्थान-पतन आदि के पीछे कर्म-सिद्धान्त ही सक्रिय रहता है। सत्कर्म सुख और दुष्कर्म दुःख के रूप में फलित होते हैं। कुछ कर्म तो तत्काल ही फलित हो जाते हैं राजन ! अच्छे कर्मों के अच्छे परिणाम मिल जाते हैं। हमारे अनेक अच्छे कर्मों के भले परिणाम और बुरे कर्मों के दुष्परिणाम भी हमें लगता है कि हमें नहीं मिले। वे मिलते अवश्य हैं। आज नहीं तो कल—इस जन्म में नहीं तो आगामी जन्म में सही, पर फल तो भोगने ही होंगे। इस प्रकार हमें इस जीवन में जो सुख-दुःख मिल रहे हैं—

उनके कारण-स्वरूप कर्मों का पता नहीं लगता। राजन्, पता उनका लग भी नहीं सकता। हमारे ये सुख-दुःख पूर्वजन्म के सुकर्म और दुष्कर्म के परिणाम होते हैं, इस जीवन के नहीं। कर्मों के फल ही सुख-दुःख के रूप में व्यक्त होते हैं।"

मुनिश्री कुछ पलों तक मौन रह गये। नरेश वत्सराज की अन्तःप्रेरणा उन्हें उद्विग्न कर रही थी। वे मुनिश्री से आगामी वृत्तान्तार्थ अनुरोध करने ही वाले थे कि वे स्वतः बोल उठे—"सुनो राजन्! अब मैं तुम्हें तुम्हारे पूर्वभव का ज्ञान कराता हूँ। तुम्हें स्वतः ज्ञात हो जायगा कि तुम्हारे इस भव के सुख-दुःख का मूल क्या रहा है? अपने पूर्वभव में तुम वसन्तपुर के राजा थे। तुम्हारा नाम था—शूरसिंह। शशिचूला तुम्हारी पट्टरानी थी। कालान्तर में तुमने रतिचूला से एक विवाह और किया। इस नयी रानी के प्रेम में ग्रस्त होकर तुमने शशिचूला को विस्मृत कर दिया। तुम उसके अतिशय दुःखों के कारण बन गये थे। उसने गृहत्याग कर दिया यहाँ तक कि असमय ही वह मरण को प्राप्त कर व्यंतरी बनी थी। इसी व्यंतरी के हाथ को तुमने इस भव में खड्ग प्रहार से आहत किया था। अपने पूर्वभव में राजन् तुम्हारी रतिचूला के रूप में अतिशय आसक्ति थी न, वही इस भव मे सोमदत्ता के रूप में पुनः तुम्हारी प्रेयसी बनी है।"

निष्कर्षतः मुनिश्री ने कहा—"राजन्! पूर्वभव में तुमने दानादि अनेक पुण्य कर्म किये। फलतः तुम्हें इस भव के सुख सुलभ हुए। तुमने पूर्व भव में शशिचूला को बहुत कष्ट दिये—इस दुष्कर्म का फल ही तुम्हें इस भव में दुःखों के रूप में भोगना पड़ा।"

नरेश वत्सराज ने शान्तिपूर्वक सब कुछ सुना। पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उनकी आत्मा जागृत हो उठी। सहसा उनका मन विरक्ति से भर उठा। उनको गृहत्याग की प्रेरणा हुई। अपने ज्येष्ठ पुत्र को उन्होंने क्षितिप्रतिष्ठितपुर का और उससे कनिष्ठ पुत्र को उज्जयिनी का नृपति घोषित कर दिया। अपना सर्वस्व त्याग कर वत्सराज ने संयम ग्रहण कर लिया। वत्सराज की चारों रानियों—सोमदत्ता, रत्नचूला, स्वर्णचूला एवं श्रीदेवी ने भी दीक्षा ग्रहण की। सभी ने चारित्र पालनपूर्वक शेष जीवन व्यतीत किया एवं अन्ततः अमर विमान के अधिकारी हुए। धर्माचरण ही मनुष्य को देवत्व प्रदान करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रमुख विचार व सूक्तियाँ

+ एक शासक का कर्त्तव्य इसमें सम्पूर्ण नहीं हो जाता कि वह अपने शासन-काल में अपनी प्रजा को अच्छा शासन दे। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह प्रजा को अच्छा शासक देकर जाय।
+ राजा बनना एक बात है और बने रहना अन्य बात है। सभी की नियति में ये दोनों बातें नहीं होतीं।
+ दुर्दिन कहकर नहीं आते हैं। संकट जब आता है, अकेला नहीं आता। उसके अनेक संगी-साथी उसके आगे-पीछे रहते हैं।
+ जीवन में धूप-छाँह, उतार-चढ़ाव आते ही रहते हैं। जो इन सभी का स्वागत करने को तत्पर रहता है—सफलता उसी के हाथ लगती है।
+ सत्य की चिनगारी कब तक मिथ्या की रूई में आवृत रहेगी। सत्य एक दिन इस आवरण को छिन्न-भिन्न कर अवश्य प्रकट होगा।
+ राज्य किसी की शुभकामाओं से नहीं, भुज बल के सहारे टिका रहता है।
+ सायास उपलब्धि अचरज नहीं, सुख का कारण बनती है।
+ साध्य की ओर चरण उठाकर जो साधक सोच-विचार में पड़ जाय, वह सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।
+ जनाशीष शासक के लिए शक्ति-वर्धक होती है।
+ मनोयोगपूर्वक किया गया प्रयत्न कठिन से कठिन कार्य में भी सफलता प्रदान कर देता है।
+ स्त्रियाँ न तो ज्ञात तथ्यों को स्वयं तक सीमित रख पाती हैं और न ही ज्ञातव्यों के प्रति अपनी जिज्ञासा को दबा पाती हैं।
+ विपत्ति सभी पर आती है, पर जो धीरज को अपना सकता है, वही विपत्ति पर विजयी हो पाता है।

+ पुत्र के सुकर्म से माता-पिता का यशोगान हो—पुत्र के लिए यही सच्ची कमाई है।

+ महत्वाकांक्षा और लगन का योग हो तो कोई लक्ष्य अप्राप्य नहीं रह सकता।

+ लूटो और लूट का एक अंश राजा को दे दो—जिसके राज्य की यह नीति बन जाय उस राजा से आदर्श की, सुव्यवस्था की आशा नहीं की जा सकती।

+ कायरों के मन उनके हाथों की अपेक्षा पैरों को ही अधिक सक्रिय करते हैं।

+ धर्माचरण ही मनुष्य को देवत्व प्रदान करता है।

卐